विवेक-ज्योति

वर्ष ५२ अंक २ फरवरी २०१४

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

फरवरी २०१४

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५२
अंक २

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

पुरखों की थाती

दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे तु जनकात्मजा ।
पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ।। ३५२

– मैं उन श्रीराम को नमन करता हूँ, जिनकी बायीं ओर सीता जी, दायीं ओर लक्ष्मण और सामने श्रीमारुति विराजमान हैं।

दक्षः श्रियमधिगच्छन्ति पथ्याशी कल्यतां सुखमरोगी ।
उद्युक्तो विद्याऽन्तं धर्मार्थ-यशांसि च विनीतः ।।३५३।।

– कार्यकुशल व्यक्ति लक्ष्मी को प्राप्त करता है, संयम से खानेवाला आरोग्य को प्राप्त करता है, नीरोगी व्यक्ति सुख को प्राप्त करता है, परिश्रमी व्यक्ति विद्या को प्राप्त करता है और विनम्र व्यक्ति धन-धर्म तथा यश को प्राप्त करता है।

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ।। ३५४

– मित्र के छह लक्षण हैं – उसे कुछ देना और उसका दिया हुआ ग्रहण करना, अपनी गोपनीय बातें बताना और पूछना, उसका दिया हुआ खाना और उसे खिलाना। (पंचतंत्र)

दरिद्रान्भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।
व्याधितस्यौषधम् पथ्यं नीरुजस्य किमौषधैः ।।३५५।।

– हे युधिष्ठिर, धनवानों को धन न देकर, निर्धनों का पालन करो। क्योंकि दवा रोगी के लिये ही हितकर होती है, नीरोग व्यक्ति को औषधि देने से क्या लाभ?

दानाय लक्ष्मीः सुकृताय विद्या,
चिन्ता परब्रह्म-विनिश्चयाय ।
परोपकाराय वचांसि यस्य,
धन्यस्त्रिलोकी-तिलकः स एव ।।३५६।।

– वही व्यक्ति धन्य और तीनों लोकों के मस्तक का तिलक है, जिसका धन दान के लिये है, विद्या पुण्य के लिये है, चिन्तन परब्रह्म में चित्त को स्थिर करने के लिये है और वाणी परोपकार के लिये है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणि ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।।३५७।।

– जो दान स्थान-काल-पात्र के अनुसार दिया जाय और जो किसी उपकार के बदले में न हो, वही सात्त्विक दान है।

दातव्यं भोक्तव्यं धनविषये संचयो न कर्तव्यः ।
पश्येह मधुकरीणां संचितार्थं हरन्त्यन्ये ।।३५८।।

– धन का दान करना चाहिये अथवा भोग; धन का संचय तो कदापि नहीं करना चाहिये। देखो, इस संसार में मधुमक्खियों द्वारा संचित पदार्थ दूसरों द्वारा हरण कर लिया जाता है।

दाता क्षमी गुणग्राही स्वामी दुःखेन लभ्यते ।
शुचिर्दक्षोऽनुरक्तश्च जाने भृत्योऽपि दुर्लभः ।।३५९।।

– उदार, क्षमाशील, गुणों का प्रशंसक मालिक बड़ी कठिनाई से मिलता है; और शुद्ध-हृदय, कार्यकुशल तथा स्वामीभक्त सेवक भी बड़ी कठिनाई से मिलता है।

दानं पूजा तपश्चैव तीर्थसेवा श्रुतं तथा ।
सर्वमेव वृथा तस्य, यस्य शुद्धं न मानसम् ।।३६०।।

– उस व्यक्ति का दान, पूजा, तप, तीर्थसेवन, शास्त्र-पाठ आदि सब वृथा है, जिसका चित्त शुद्ध नहीं हुआ, (क्योंकि इन सबका मूल उद्देश्य चित्तशुद्धि ही है)।

दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम् ।
वित्तं त्यागनियुक्तं दुर्लभमेतच्चतुष्टयं लोके ।।३६१।।

– ये चार चीजें संसार में दुर्लभ हैं – मधुर बातों के साथ दान, गर्वहीन ज्ञान, क्षमायुक्त वीरता और त्यागयुक्त धन।

❖ (क्रमशः) ❖

श्रीरामकृष्ण-स्तुति

– १ –

(चन्द्रकौंस–कहरवा)

परमहंस भगवान, हमें दो, बस इतना वरदान,
निशिदिन होवे हृदय कमल में,
मधुर तुम्हारा ध्यान ।।

चार दिनों का धन-यौवन है, छिछला सारा ही जीवन है,
इस दुनिया में किसी वस्तु का,
ना होवे अभिमान ।।

मम प्रारब्ध जहाँ ले जाए, और वहाँ जो भी करवाए,
पर न कभी भूलूँ मैं तुमको,
मिटे मोह अज्ञान ।।

अन्त समय हो स्मरण तुम्हारा, नाम सतत अधरों पर प्यारा,
आऊँगा चिरधाम तुम्हारे, तज 'विदेह' तन-म्यान ।।

– २ –

(नन्द–कहरवा)

ठाकुर, हमको ना बिसराना,
दीन-आर्त हम, अज्ञानी जन,
दो पद-कमल-ठिकाना ।।

दीनबन्धु है नाम तुम्हारा,
तव करुणा-पालित जग सारा,
आश्रित जन हैं जनम-जनम के,
दिल की साध मिटाना ।।

जीवन राह कठिन अनजानी,
हम बालक अबोध अज्ञानी,
भटक न जाएँ कहीं बीच में,
बाँह पकड़ ले जाना ।।

कर्म हेतु हम जग में आए,
पर जब वह पूरा हो जाए,
अन्त समय दर्शन 'विदेह' दे,
निज स्वधाम ले जाना ।।

देश के लिये मेरी कार्ययोजना

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

भारत के लिये मेरी योजना ने जो रूप धारण किया है, वह इस प्रकार है – मैं कह चुका हूँ कि संन्यासी लोग वहाँ किस प्रकार जीवन बिताते हैं, किस प्रकार द्वार-द्वार पर भिक्षा माँगने जाते हैं और धर्म को निःशुल्क उनके पास पहुँचाते हैं। इसके बदले बहुत हुआ तो रोटी का एक टुकड़ा ले लेते हैं। यही कारण है कि भारत का सबसे साधारण व्यक्ति भी धर्म के विषय में सर्वोच्च विचारों से परिचित है। यह सब इन्हीं संन्यासियों के कार्य का फल है। तुम उनसे पूछो – 'अंग्रेज कौन हैं?' – वह नहीं जानता। – 'तुम्हारे शासक कौन है?' – 'हमें पता नहीं।' – 'शासन क्या है?' – 'हमें नहीं मालूम।' पर धर्म और दर्शन वे जानते हैं। संसार के व्यावहारिक जीवन के विषय में बौद्धिक शिक्षा का अभाव ही उनके कष्टों का कारण है। ये करोड़ों लोग इस संसार से परे के जीवन के लिए सदा प्रस्तुत रहते हैं – यही क्या उनके लिए पर्याप्त नहीं है? कदापि नही। उनके पेट को बेहतर रोटियों और शरीर को बेहतर कपड़ों की आवश्यकता है। सबसे बड़ी समस्या यह है कि इन करोड़ों अधःपतित लोगों के लिये बेहतर रोटियों और बेहतर कपड़ों की व्यवस्था कैसे की जाय!

पहले बता दूँ कि उन लोगों में महान सम्भावनाएँ निहित हैं, क्योंकि वे संसार के सर्वाधिक कोमल स्वभाव के लोग हैं; परन्तु कायर या भीरु नहीं हैं। जब वे लड़ते हैं, तो दैत्यों की भाँति लड़ते हैं। अंग्रेजों के सर्वोत्तम सैनिक भारतीय किसानों में से ही भर्ती किये गये हैं। मृत्यु का उनके लिये कोई महत्त्व नहीं। उनका मत है, 'मेरी मृत्यु तो बीसों बार हो चुकी और सैकड़ों बार और होगी। इससे क्या?' पीछे हटना उन्हें नहीं आता। भावुकता के वे कायल नहीं, परन्तु योद्धा वे सर्वोच्च कोटि के हैं।

स्वभाव से खेती उन्हें प्यारी है। तुम उन्हें लूट लो, उनको कत्ल कर दो, उन पर कर लगा दो, उनके साथ कुछ भी करो, पर जब तक तुम उन्हें उनके धर्मपालन की आजादी देते हो; तब तक वे बड़े नम्र, बड़े शान्त और चुप बने रहेंगे। वे कभी दूसरों के धर्म से नहीं लड़ते। 'हमें अपने देवताओं की पूजा करने की आजादी दो, फिर चाहे हमारा सब कुछ छीन लो' – यही उनका रुख है। अँग्रेजों ने जब उस मर्मस्थल को छुआ, तो उपद्रव शुरू हो गया! १८५७ के गदर का यही सच्चा कारण था – वे धार्मिक दमन सह न सके। मुस्लिम सरकारें केवल इसीलिए उड़ा दी गयीं कि उन्होंने भारत के धर्म को छूने की चेष्टा की। ...

इतने पवित्र और भले लोगों को ऐसी मुसीबतें झेलनी पड़ें – इसका कोई कारण नहीं दिखता! ... ऐसी कोई राष्ट्रीय सभ्यता नहीं, जिसे पूर्ण कहा जा सके। उसे थोड़ा-सा सहारा दे दो और वह अपने लक्ष्य तक पहुँच जायगी। उसे बदलने की चेष्टा मत करो। यदि तुम किसी देश से उसकी संस्थाएँ, उसके रीति-रिवाज, उसके चाल-चलन छीन लो, तो फिर बचेगा ही क्या? इन्हीं तानों-बानों से तो राष्ट्र बँधा रहता है।

हमारे यहाँ एक विदेशी विद्वान आता है और कहता है, "देखो, अपनी इन हजारों वर्ष पुरानी संस्थाओं तथा रीति-रिवाजों को छोड़कर हमारे मूर्खतापूर्ण निर्देशों के अनुसार चलो और मौज से रहो।" यह सब बकवास है!

हमें आपस में मदद तो करनी होगी, पर इससे भी एक कदम आगे जाना होगा। मदद करने में सबसे जरूरी बात यह है कि हम निःस्वार्थ बन जायँ। तुम कहते हो, "यदि तुम मेरे निर्देशों के अनुसार चलोगे, तभी मैं तुम्हें सहायता दूँगा, अन्यथा नहीं।" क्या यह सहायता है? ...

अतः मेरे पास भारत के इस जनसमूह के बीच पहुँचने की योजना है। ... देखो, कागजों पर तो हमने अच्छी योजना तैयार कर ली, परन्तु साथ ही, मैंने उसे आदर्शवाद के क्षेत्र से ग्रहण किया था। पहले मेरी योजना शिथिल और आदर्श के रूप में थी। परन्तु समय की गति के साथ वह स्थिर और सुस्पष्ट होती गयी। उसको वास्तविक कार्य रूप में परिणत करते समय मुझे उसके दोष आदि दिखाई पड़ने लगे।

व्यावहारिक रूप से उसे क्रियान्वित करते हुए मैंने क्या पाया? पहले तो हमें ऐसे शिक्षा-केन्द्रों की जरूरत होगी, जहाँ संन्यासियों को इस शिक्षा-पद्धति का प्रशिक्षण दिया जा सके।... तुम देखोगे कि भारत का हर आदमी बिल्कुल निरक्षर है, इसलिए उन्हें शिक्षा देने के लिए विशाल केन्द्रों की जरूरत होगी। और इन सबका क्या तात्पर्य हुआ? – धन! आदर्श के धरातल से तुम दैनन्दिन कार्य-प्रणाली पर उतर आते हो। मैंने तुम्हारे देश में चार वर्ष और इंग्लैंड में दो वर्ष श्रम किया।... कुछ अमेरिकी और अंग्रेजी मित्र मेरे साथ भारत भी गये और हमारा कार्य बड़े ही साधारण रूप में शुरू हुआ। कुछ अंग्रेज आये और हमारे संघ से जुड़ गये। एक बेचारे ने तो बड़ा परिश्रम किया और भारत में ही दिवंगत हो गया। वहाँ अभी एक अवकाशप्राप्त अंग्रेज सज्जन और एक अंग्रेज देवी हैं। उनके पास कुछ संसाधन हैं। उन्होंने हिमालय में एक केन्द्र आरम्भ किया है और बालकों को शिक्षा देते हैं। मैंने अपनी एक पत्रिका – 'प्रबुद्ध भारत' भी उन्हें सौंप दी है, जिसकी एक प्रति मेज पर रखी हुई है। वहाँ पर वे लोग जनता को शिक्षा देते हैं और उन्हीं के बीच कार्य करते हैं। मेरा एक अन्य केन्द्र कलकत्ता में है।...

मुझे यह बताते हर्ष होता है कि हमने साधारण रूप में प्रारम्भ कर दिया है। ठीक इसी के समानान्तर रूप में मैं नारियों के लिए कार्य शुरू करना चाहता हूँ।... कार्य का यह अंश सम्पन्न होना अभी बाकी है।[१९]

मेरा विचार है कि भारत तथा भारत के बाहर मनुष्य-जाति में जिन उदार भावों का विकास हुआ है, उसकी शिक्षा गरीब-से-गरीब तथा हीन-से-हीन व्यक्ति को भी दी जाय; और फिर उन्हें स्वयं विचार करने का अवसर दिया जाय। जातिभेद रहना चाहिए या नहीं, महिलाओं को पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए या नहीं – मुझे इनसे कोई वास्ता नहीं। 'विचार और कार्य की स्वाधीनता ही जीवन, उन्नति तथा कल्याण का एकमात्र साधन है।' जिसे स्वाधीनता नहीं है; उस मनुष्य, उस जाति या उस राष्ट्र की अवनति निश्चित है। ...

जीवन में मेरी सर्वोच्च अभिलाषा है कि एक ऐसा यंत्र चालू कर दूँ, जो सर्वश्रेष्ठ विचारों को सबके द्वारों तक पहुँचा दे। उसके बाद हर पुरुष या नारी स्वयं ही अपने भाग्य का निर्णय करे।[२०]

श्रीरामकृष्ण के चरणों के दिव्य स्पर्श से चैतन्य-लाभ करने वाले उन मुट्ठी भर नवयुवकों की ओर देखो। उन्होंने आसाम से सिंध तक और हिमालय से कन्याकुमारी तक उनके सन्देश का प्रचार कर डाला है। वे लोग हिमालय पर्वत को बीस हजार फुट की ऊँचाई पर से पैदल ही बर्फ पर से लाँघकर तिब्बत के रहस्यमय प्रदेश तक प्रविष्ट हो चुके हैं। उन्होंने अपनी रोटी भिक्षा द्वारा प्राप्त की और चिथड़ों से अपने अंग ढँके। उन पर कितने ही अत्याचार किये गये, पुलिस ने उनका पीछा किया, वे जेल में डाले गये, पर अन्ततः जब उनकी निर्दोषिता प्रमाणित हो गयी, तब सरकार ने उन्हें मुक्त कर दिया।[२१]

दर्जन भर अकिंचन युवकों ने मिलकर एक काम शुरू किया – वही अब इस प्रकार क्रमशः रफ्तार पकड़ता जा रहा है– यह क्या कोरी बकवास है या प्रभु की इच्छा?[२२]

'संसार में पाप नहीं है' – इस सन्देश के प्रचारक के रूप में संसार के हर भाग में मेरी आलोचना की गयी है कि मैं घोर पैशाचिक सिद्धान्त फैला रहा हूँ। बहुत अच्छा, परन्तु अभी जो लोग मुझको बुरा-भला कह रहे हैं, उन्हीं के वंशज मुझे अधर्म का नहीं, अपितु धर्म का प्रचारक कहकर आशीर्वाद देंगे। मैं धर्म का प्रचारक हूँ, अधर्म का नहीं। मैंने अज्ञान के अन्धकार का प्रचार नहीं किया, बल्कि ज्ञान के प्रकाश को फैलाने की चेष्टा की है, इसे मैं अपना गौरव समझता हूँ।[२३]

यूरोप के अधिकांश नगरों में भ्रमण करते समय, वहाँ के गरीबों के भी अमन-चैन और शिक्षा को देखकर मुझे अपने निर्धन देशवासियों की याद आती थी और मैं आँसू बहाता था। यह अन्तर क्यों हुआ? उत्तर मिला – शिक्षा से।[२४]

अमेरिका के बिस्तर बड़े कोमल तथा आरामदायक हैं। वैसी चीजें भारत में देखने तक को नहीं मिलतीं। परन्तु मेरी ऐसी भी अनेक रातें गुजरी हैं, जब मैं अपने देशवासियों की चरम निर्धनता के बारे में सोचते हुए, उन कोमल बिस्तरों पर भी नहीं सो सका। कितनी ही रातें मैं फर्श पर पड़ा हुए तड़पते हुए बिना निद्रा या विश्राम के ही बिता देता।[२५]

यथार्थ जिज्ञासु के लिये लगातार दो रात बोलते रहने से भी मुझे श्रम का बोध नहीं होता। मैं आहार, निद्रा आदि छोड़कर लगातार बोल सकता हूँ और चाहूँ तो मैं हिमालय की गुफा में समाधिमग्न होकर भी बैठा रह सकता हूँ। ... मैं वैसा क्यों नहीं करता? इस देश में रह क्यों रहा हूँ? देश की दशा देखकर और इसके भविष्य के बारे में सोचकर मैं स्थिर नहीं रह सकता! समाधि आदि तुच्छ लगती है – **तुच्छं ब्रह्मपदम्** हो जाता है! तुम लोगों के कल्याण की कामना ही मेरे जीवन का व्रत है। जिस दिन मेरा वह व्रत पूर्ण हो जायगा, मैं उसी दिन देह छोड़कर सीधा चला जाऊँगा।[२६]

मैंने दुनिया में घूमकर देखा है कि इस देश की तरह इतने अधिक तामस स्वभाव के लोग दुनिया भर में अन्यत्र कहीं भी नहीं हैं – बाहर सात्त्विकता का ढोंग, पर अन्दर बिल्कुल ईंट -पत्थर की तरह जड़ – इनसे जगत् का क्या काम होगा? ऐसी अकर्मण्य, आलसी, घोर विषयी जाति दुनिया में और कितने दिन जीवित रह सकेगी? ...

इसीलिए मैं सर्वप्रथम इस देश के लोगों में रजोगुण की वृद्धि करके उन्हें कर्मठ बनाकर जागतिक जीवन-संग्राम के योग्य बनाना चाहता हूँ। देह में शक्ति नहीं, हृदय में उत्साह

नहीं, मस्तिष्क में प्रतिभा नहीं। क्या होगा इन जड़ पिण्डों से? मैं हिला-डुलाकर इनमें स्पन्दन लाना चाहता हूँ। यही मेरा जीवन-व्रत है। वेदान्त के अमोघ मंत्र की शक्ति से इन्हें जगाऊँगा। **उत्तिष्ठत जाग्रत** – इस अभय वाणी को सुनाने के लिए ही मेरा जन्म हुआ है।[२७]

कार्यक्षेत्र में अपने आजीवन अनुभव के आधार पर मैं स्पष्ट रूप से कहना चाहता हूँ कि 'रहस्यवाद' मुझे सदा ही मानवता के लिये हानिकर तथा दुर्बल बनानेवाला प्रतीत हुआ है। हमें शक्ति की जरूरत है। हम भारतवासियों को पृथ्वी की किसी भी अन्य देश से अधिक शक्तिदायी विचारों की जरूरत है। सभी विषयों में हमारे यहाँ बड़े सूक्ष्म विचार उपलब्ध हैं। सदियों से हम लोगों में रहस्यवाद भरा जाता रहा है; इसके फलस्वरूप हमारी बौद्धिक तथा आध्यात्मिक पाचन-शक्ति प्राय: नष्ट हो चुकी है और हमारा पूरा देश निराशाजनक निर्बुद्धिता के इतने गहरे गर्तों में गिर चुका है, जितना कि उसके पहले और अब तक कोई सभ्य समुदाय नहीं गिरा था। देश में पौरुष जगाने के लिये विचारों की ताजगी और जीवन्तता जरूरी है। उपनिषदों में पूरे विश्व को सबल बनाने की समुचित क्षमता विद्यमान है। अद्वैतवाद शक्ति का चिरन्तन स्रोत है। पर इसे व्यवहार में लाने की जरूरत है। सबसे पहले तो इसे विद्वत्ता के अलंकरण से बाहर निकालना होगा; और तब इसके सहज, सुन्दर तथा उदात्त रूप को, दैनन्दिन जीवन के हर क्षेत्र में व्यावहारिक बनाकर देश के हर अंचल में उसकी शिक्षा देनी होगी। यह एक बहुत बड़ी योजना है, तथापि हमें इस भाव के साथ कार्य में लग जाना होगा, मानो यह कल ही सम्पन्न हो जायगा। एक चीज के बारे में मैं निश्चिन्त हूँ कि जो कोई भी सच्चे प्रेम तथा नि:स्वार्थता के साथ अपने भाइयों की सहायता करना चाहेगा, उसके द्वारा अद्भुत कार्य सम्पन्न होंगे।[२८]

मैंने कभी प्रतिशोध की बात नहीं की। मैंने सदा बल की बात की है। क्या हम समुद्र की फुहार की किसी बूँद से बदला लेने की स्वप्न में भी कल्पना करते हैं? लेकिन एक मच्छर के लिए यह एक बड़ी बात है।[२९]

मेरी अब एकमात्र इच्छा यही है कि देश को जगा डालूँ – मानो महावीर भारत अपनी शक्तियों से विश्वास खोकर – निस्पन्द भाव से सो रहा है। यदि मैं किसी प्रकार इसे सनातन धर्म के भाव में जगा सकूँ, तो समझूँगा कि श्रीरामकृष्ण तथा हम लोगों का आना सार्थक हुआ। केवल यही इच्छा है – मुक्ति आदि सब तुच्छ लगती है।[३०]

ज्यों-ज्यों मेरी आयु बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों मुझे सब कुछ पौरुष में निहित दीख पड़ता है; और यही मेरा नवीन सन्देश है।[३१]

मैं उन सभी से असहमत हूँ, जो अपने अन्धविश्वास हमारे देशवासियों पर लाद रहे हैं। जैसे मिस्र-पुरात्त्वविद् की मिस्र में रुचि रहती है, वैसे ही भारत के विषय में नितान्त स्वार्थपूर्ण रुचि रखना सरल है। कोई भी अपने ग्रन्थों, अपने अध्ययन तथा अपने सपनों का भारत पुन: देखने की आकांक्षा रख सकता है। परन्तु मैं उस भारत के सबल तत्त्वों को आधुनिक युग के सबल तत्त्वों से परिपुष्ट देखना चाहता हूँ, परन्तु यह मिश्रण स्वाभाविक रूप से होना चाहिए। नये भारत का विकास भीतर से होना चाहिए।

इसीलिए मैं केवल उपनिषदों का ही प्रचार करता हूँ। यदि तुम ध्यान से देखो तो देखोगे कि मैंने उपनिषदों के अतिरिक्त अन्य कहीं से उद्धरण नहीं दिए हैं। उपनिषदों से भी मैंने केवल 'बल' का आदर्श ही ग्रहण किया है। केवल इस एक शब्द में ही वेद, वेदान्त आदि समस्त शास्त्रों का सार निहित है। बुद्ध ने अप्रतिरोध या अहिंसा का प्रचार किया था; परन्तु मैं समझता हूँ कि 'बल' के रूप में उसी बात को और भी सुन्दर ढंग से व्यक्त किया जा सकता है। क्योंकि अहिंसा के पीछे भयावह दुर्बलता छिपी हुई है। दुर्बलता के कारण ही प्रतिरोध के भाव का उदय होता है। समुद्र की लहरों की एक-एक बूँद को सजा देने या उससे पलायन करने की बात मैं सोच भी नहीं सकता। मेरे लिए उसका कोई महत्त्व नहीं, परन्तु मच्छर के लिए वह एक गम्भीर बात होगी। मैं समस्त हिंसा को वैसा ही बना दूँगा। शक्ति और निर्भयता। मेरे अपने आदर्श तो वे महान सन्त हैं, जिन्हें सिपाही विद्रोह के समय मार डाला गया था और सीने में छूरा भोंके जाने पर उन्होंने केवल इतना ही कहने के लिए अपना मौन तोड़ा, "और तू भी तो वही है – तत्त्वमसि।"

परन्तु तुम पूछ सकते हो कि इस योजना में श्रीरामकृष्ण का क्या स्थान होगा?

वे ही तो प्रणाली हैं, वह अद्भुत अबोधगम्य प्रणाली! वे स्वयं ही अपने को नहीं समझते थे। वे इंग्लैंड तथा अंग्रेजों के बारे में कुछ भी नहीं जानते थे, सिवाय इतना कि वे लोग समुद्रपार से आये विचित्र लोग हैं। परन्तु उन्होंने वह महान जीवन बिताया और मैं उसका एक व्याख्याकार मात्र हूँ। किसी के लिए भी उनके मुख से निन्दा के शब्द नहीं निकले। एक बार मैं अपने देश के बीभत्स आचारों वाले एक सम्प्रदाय की कठोर आलोचना कर रहा था। मैं तीन घण्टों तक उत्तेजित होकर बोलता रहा और वे सब कुछ चुपचाप सुनते रहे। मेरी बातें समाप्त हो जाने पर उस वृद्ध ने बस इतना ही कहा, "ठीक है! ठीक है! लेकिन हर मकान में मेहतर के प्रवेश के लिए एक पिछला द्वार भी तो होता है न! यह भी वैसा ही है।[३२]

(प्रश्न – भारत के सन्दर्भ में आपके आन्दोलन की क्या भूमिका होगी?) हिन्दू धर्म के व्यापक आधारों को ढूँढ़ना और उनके प्रति राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करना। आजकल भारत में 'हिन्दू' शब्द के अन्तर्गत तीन दल आते हैं: सनातनी, मुसलमान काल के सुधारवादी सम्प्रदाय और आधनिक युग के सुधारवादी सम्प्रदाय। उत्तर से दक्षिण तक हिन्दुओं की केवल एक बात में सहमति है; और वह है गोमांस का निषेध। *(क्या वेदों के प्रति समान रूप से श्रद्धाभाव नहीं?)* निश्चय ही नहीं। इसी को तो हम पुन: जगाना चाहते हैं। ...

(इन तीन दलों में से आप किसके साथ हैं?) हम सभी के साथ हैं। हम सनातनी हिन्दू हैं, पर हम अपने आपको 'मत-छुओ-वाद' में कदापि सम्मिलित नहीं करना चाहते। वह हिन्दू धर्म नहीं है: वह हमारे किसी भी ग्रन्थ में नहीं है; वह एक सनातनी अन्धविश्वास है, जिसने हमारी राष्ट्रीय कार्यक्षमता में सदैव बाधा पहुँचायी है। ...

(श्रीरामकृष्ण किस अर्थ में इस जाग्रत हिन्दू धर्म के एक अंश हैं?) यह निश्चय करने का काम मेरा नहीं है। मैने कभी व्यक्तियों का प्रचार नहीं किया। स्वयं मेरे जीवन का पथ इस महान् आत्मा के उत्साह से अनुप्राणित है। पर दूसरे लोग स्वयं अपने लिए इस बात का निर्णय करें कि वे इस मत से कितने सहमत हैं। सारे संसार को प्रेरणा केवल एक ही स्रोत से नहीं मिलता, चाहे वह कितना ही विशाल हो। प्रत्येक पीढ़ी को नये सिरे से अनुप्राणित किया जाना चाहिए। क्या हम सब ईश्वर नहीं हैं? ...

हमारी कार्य-विधि बहुत सरलता से बतायी जा सकती है। वह केवल राष्ट्रीय जीवन को पुन: स्थापित करना है। बुद्ध ने 'त्याग' का प्रचार किया था। भारत ने सुना, तथापि छह शताब्दियों में ही वह अपने सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया। भेद यहाँ है। त्याग और सेवा – भारत के राष्ट्रीय आदर्श हैं। इसकी इन धाराओं में वेग उत्पन्न करो; और बाकी सब कुछ अपने आप ठीक हो जायगा। इस देश में आध्यात्मिकता का झण्डा चाहे जितना भी ऊँचा क्यों न किया जाय, वह पर्याप्त नहीं होता। केवल इसी में भारत का उद्धार है।[३३]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

१९. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १०, पृ. १४-२०; **२०.** वही, खण्ड २, पृ. ३२१; **२१.** वही, खण्ड ९, पृ. ३८०; **२२.** वही, खण्ड ३, पृ. ३६१; **२३.** वही, खण्ड ५, पृ. १३५; **२४.** वही, खण्ड ६, पृ. ३११; **२५.** Reminiscences of Swami Vivekananda, Ed. 2004, पृ. ३५६; **२६.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृ. १५०-१; **२७.** वही, खण्ड ६, पृ. १५४-५५; **२८.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. ७६-७७; **२९.** वही, खण्ड १०, पृ. २१७; **३०.** वही, खण्ड ६, पृ. १६०; **३१.** The Master as I saw Him, Sister Nivedita, सं.१९६२, पृ. १४५; **३२.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, पृ. १३२-३३; **३३.** वही, खण्ड ४, पृ. २६३

ईश्वर को खोजो, वे अवश्य मिलेंगे

क्या सबको ईश्वर का दर्शन मिलेगा? किसी को भी दिन भर भूखा नहीं रहना पड़ता। किसी को सबेरे नौ बजे, किसी को दोपहर के दो बजे, तो किसी को शाम के वक्त भोजन मिल जाता है। इसी प्रकार कभी-न-कभी – इसी जन्म में या अनेक जन्मों के बाद, सभी को ईश्वर के दर्शन प्राप्त होंगे।

रत्नाकर (समुद्र) में अनेक रत्न हैं, परन्तु उन्हें पाने के लिए तुम्हें कठोर परिश्रम करना होगा। यदि एक ही डुबकी में तुम्हें रत्न न मिले, तो समुद्र को रत्न से रहित मत समझ बैठो। बार-बार डुबकी लगाओ, डुबकी लगाते-लगाते अन्त में तुम्हें रत्न जरूर मिलेगा। उसी प्रकार भगवत्प्राप्ति के पथ में यदि तुम्हारे शुरू-शुरू के प्रयत्न असफल सिद्ध हों, यदि थोड़ी साधना करके तुम्हें ईश्वर के दर्शन न हों, तो हताश हुए बिना, धीरज के साथ साधना करते रहो। अन्त में, ठीक समय पर, तुम्हें उनके दर्शन अवश्य होंगे।

छोटा बच्चा घर में अकेले ही बैठे-बैठे खिलौनों से मौज से खेलता रहता है, उसके मन में कोई भय-चिन्ता नहीं होती। पर जैसे ही उसकी माँ वहाँ आ जाती है, वैसे ही वह सारे खिलौने छोड़कर 'माँ, माँ' कहते हुए उसकी ओर दौड़ जाता है। तुम भी इस समय धन-मान-यश के खिलौने लेकर संसार में निश्चिन्त होकर सुख से खेल रहे हो, कोई भय-चिन्ता नहीं है। पर यदि तुम एक बार भी उस आनन्दमयी माँ को देख पाओ, तो फिर तुम्हें धन-मान-यश नहीं भाएँगे, तुम सब फेंककर उन्हीं की ओर दौड़ जाओगे।

– *श्रीरामकृष्ण*

धर्म-जीवन का रहस्य (१/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. में विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'धर्म' विषयक जो प्रवचन हुए थे, 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)
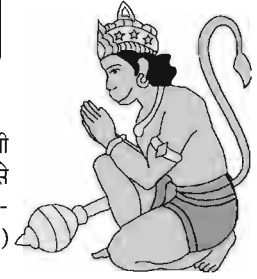
ऐसी बात नहीं कि रावण धर्म की कोई क्रिया न करता हो। वह पूजा, यज्ञ आदि सब करता था। धर्म के सन्दर्भ में जितनी भी क्रियाएँ तथा मान्यताएँ हैं, उनकी दृष्टि से देखें, तो रावण के जीवन में क्या नहीं है ! रावण महान तपस्वी, महान पण्डित और महान पुजारी है। वह शंकरजी की पूजा करनेवाला है। उसके यहाँ नित्य वेदपाठ होता है। केशवदासजी कहते है कि औरों के यहाँ तो वेदपाठ करने के लिये विद्वान् पण्डित आते हैं, पर रावण के यहाँ कौन आता है –

वेद पढ़ै विधि सम्भु सभीत
पुजावन रावण सो घर आवैं।।

रावण ने ब्रह्माजी से कहा – आप हमारे यहाँ आकर वेदपाठ कर जाया करें। शंकरजी से कहा – आप आकर पूजा ले जाया करें। जरा सोचिये – जिसके घर में ब्रह्मा वेदपाठ करते हो, जो नित्य शंकरजी की पूजा करता हो – और वह पूजा भी ऐसी-वैसी नहीं – शंकरजी की पूजा में जिसने अपना सर ही काटकर चढ़ा दिया हो। जो इतना बड़ा तपस्वी, इतना बड़ा पुजारी, क्या वह धर्मात्मा नहीं है? धर्म की सारी क्रियाएँ क्या उसके जीवन में नहीं दिखाई देती?

ये बड़े विचारणीय प्रश्न हैं और ये प्रश्न धर्म के मूल तत्त्व से जुड़े हुए हैं। इस कसौटी पर कसकर देखें, तो बिरले व्यक्ति ही ऐसे होंगे कि जिनके लिये कहा जा सके कि 'धर्म' इस व्यक्ति के जीवन में सही अर्थों में प्रतिष्ठित है।

थोड़ी गहराई से देखें, हनुमानजी ने अशोक-वाटिका में क्या सचमुच फलों की चोरी की? हनुमानजी का उत्तर है – नहीं, मैंने बिना आज्ञा के फल नहीं खाये। उन्होंने जनकनन्दिनी सीताजी से पूछा था – माँ इन वृक्षों में तो बड़े सुन्दर फल लगे हुए हैं, मैं भूखा भी हूँ – केवल भूखा ही नहीं, अतिशय भूखा हूँ। आपकी आज्ञा हो, तो मैं ये फल खा लूँ –

सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा।
लागि देखि सुन्दर फल रूखा।। ५/१७/७

किशोरीजी से बढ़कर धर्म की व्याख्या कोई क्या जानेगा? वे महाशक्ति तो हैं ही, साथ ही रामायण में लिखा है – वे राजा जनक की पुत्री, जगत की माता और श्रीराम की प्रियतमा हैं; मैं उनके दोनों चरण-कमलों को मनाता हूँ कि उनकी कृपा से मुझे निर्मल बुद्धि प्राप्त हो –

जनकसुता जग जननि जानकी।
अतिसय प्रिय करुनानिधान की।।
ताके जुग पद कमल मनावउँ।
जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ।। १/१८/८

जब उनका ऐसा स्वरूप है, तो फिर उन्हें कहना चाहिये – नहीं, दूसरे की वाटिका का फल खाना, यह तो चोरी है, अधर्म है, शास्त्र के नियमों के विरुद्ध है। बल्कि वे बोलीं – पुत्र, मैं आज्ञा तो दे देती, परन्तु तुम तो देख ही रहे हो कि ये भयानक राक्षस चारों ओर से पहरा दे रहे हैं –

सुनु सुत करहिं बिपिन रखवारी।
परम सुभट रजनीचर भारी।। ५/१७/८

माँ को चिन्ता है कि पहरेदार राक्षस उन्हें रोकने की चेष्टा करेंगे और हनुमान को कहीं कष्ट न हो जाय। पुत्र के रूप में सम्बोधित करने के बाद उन्होंने वात्सल्य से अभिभूत होकर यह बात कही। अत: माँ भी इसे चोरी नहीं मानतीं।

दूसरी ओर हनुमानजी के धर्म का सूत्र क्या था? इसमें धर्म के दो-तीन बड़े सूक्ष्म सूत्र निहित हैं। एक तो, वे यह नहीं मानते कि वाटिका रावण की है। वाटिका पहले कुबेर की थी। उस पर पहले यक्षों का अधिकार था और रावण ने उसे अन्यायपूर्वक छीन लिया था। हनुमानजी को जिससे आज्ञा माँगना चाहिये थी, उनसे माँग लिया था; जिनसे पूछना चाहिये था, उनसे पूछ लिया था। सीताजी महाशक्ति हैं और सबकी स्वामिनी तो हैं ही, साथ ही वे पृथ्वी की पुत्री भी हैं और यह वाटिका पृथ्वी का ही दिया हुआ तो है। तो वाटिका का उनसे बढ़कर उपयुक्त अधिकारी कौन होगा ! वे कहते हैं – माँ, वस्तुत: आज्ञा तो आपसे ही लेनी है, इसकी सच्ची स्वामिनी तो आप हैं, अत: मैं आपसे आज्ञा माँगता हूँ।

यहाँ सूक्ष्म अन्तर हो गया। हनुमानजी द्वारा आज्ञा माँगने के दो तात्पर्य थे – व्यावहारिक और पारमार्थिक। आध्यात्मिक दृष्टि से इसका क्या तात्पर्य था? बन्दरों ने हनुमानजी से पूछा – आपने माँ से फल खाने की आज्ञा ही तो माँगी थी, बाग उजाड़ने की तो नहीं माँगी थी। आप यह भी आज्ञा ले लेते कि फल खाने बाद मुझे बाग को भी उजाड़ना है। हनुमानजी

बोले – मैं गया तो था फल ही खाने को। – तो बाग क्यों उजाड़ा। बोले – वह फल खाने का फल था। – अर्थात्? बोले – माँ की कृपा का फल खाने के बाद भी यदि मोह की वाटिका न उजड़े, तो कृपा का फल ही क्या? रावण मूर्तिमान मोह है और जब भक्तिदेवी की कृपा होती है, तो रावण-रूपी मोह की वाटिका अपने आप ही उजड़ जाती है। इसलिये वह तो स्वाभाविक रूप से ही हुआ।

दूसरी ओर व्यावहारिक दृष्टि से, हनुमानजी मानो स्वयं भी रावण से प्रश्नोत्तर करने के लिये उत्सुक थे। वे चाहते थे कि रावण उनसे पूछे। उन्हें कोई बाँध थोड़े ही सका था। वे तो जानबूझकर बँध गये थे। वे सुनना चाहते थे, देखना चाहते थे कि रावण क्या कहता है, मुझसे क्या पूछता है। उन्होंने वस्तुत: रावण के अधिकार को चुनौती दी – तुम यह कैसे मान बैठे हो कि तुम वाटिका के स्वामी हो। तुम यह मान बैठे हो कि तुम्हारे प्रहरी वास्तविक प्रहरी है। क्या यही तुम्हारा स्वामित्व है? तुम बलपूर्वक जनकनन्दिनी का हरण करके ले आये और राक्षसों के पहरे में उन्हें रखकर कष्ट दे रहे हो? हनुमानजी सीधे न कह करके, व्यंग्य भरी भाषा में कहते हैं और वह व्यंग्य की पराकाष्ठा है। वे बोले –

खायउँ फल प्रभु लागी भूँखा। ५/२२/३

उनका तात्पर्य था कि क्या बन्दर भी वृक्ष लगाते या खेती करते या घर बनाते हैं? क्या तुम बन्दर को भी इस कसौटी पर कस सकोगे कि वह भी तुमसे पूछ कर ही फल खाये? उनका व्यंग्य यह था कि मेरी भूख तो इतनी ही थी कि फल खा लिये और सन्तुष्ट हो गया, पर कभी तुमने अपनी भूख पर विचार किया है? चार सौ कोस की सोने की लंका को खा गये, संसार भर की सुन्दरियों को खा गये, तो भी तुम्हारा पेट नहीं भरा, इसीलिये तो सीताजी को चुरा लाये। स्वयं जो इतना बड़ा चोर है, वह कहे – मुझसे बिना पूछे फल खाये, इसलिये चोर हो। उसमें निहित व्यंग्य तो सीधा-सा था, पर अगले वाक्य में और भी कठोर व्यंग्य था – तोड़-फोड़ करना तो बन्दर का स्वभाव ही है, इसलिए मैंने बाग उजाड़ दिया –

खायउँ फल प्रभु लागी भूँखा।
कपि सुभाव तें तोरेउँ रूखा।। ५/२२/३

रावण को एक बार तो लगा था कि राम मनुष्य नहीं हैं, जब उसने सूर्पणखा से सुना कि उन्होंने चौदह हजार राक्षसों का वध कर दिया, तो उसे लगा कि भगवान ने अवतार ले लिया है, अन्यथा खर तथा दूषण तो मेरे ही समान महाबली हैं, इन्हें भगवान के सिवा भला दूसरा कौन मार सकता है –

खर दूषन मोहि सम बलवन्ता।
तिन्हहि को मारइ बिनु भगवन्ता।। ३/२३/२

पर रावण ने फिर स्वयं को भुलावा दिया – ठीक है, भले भगवान ने अवतार लिया होगा! पर – मेरा शरीर तो तमोगुणी है, मुझसे भजन आदि नहीं हो सकता –

होइहि भजनु न तामस देहा।। ३/२३/५

हनुमानजी का व्यंग्य यह था कि तुम पुलस्त्य के नाती और वेदों के विद्वान होकर भी कहते हो कि तुम्हारा तामसी स्वभाव है, तुमसे भजन नहीं हो सकता और बन्दर से आशा रखते हो कि वह अपना स्वभाव छोड़ दे? इतने बड़े ऋषि के पौत्र और पण्डित होकर भी तुम अपना स्वभाव नहीं बदल सके और बन्दर अपना स्वभाव बदल ले? हम सभी लोग यही तो चेष्टा करते हैं – दूसरे सब अनुशासन में रहें, परिवार वाले, देशवाले और यहाँ तक कि कुत्ता भी अनुशासन में रहे – कहाँ उठे, कहाँ बैठे – यही सिखाते हुए लोग सारा समय बिता देते हैं। पशु को हम अनुशासन सिखा रहे हैं और अपने जीवन को बिल्कुल निरंकुश बनाये हुए हैं। हनुमानजी रावण को याद दिलाते हैं – तुम जो कुछ कह रहे हो, जरा अपनी ओर भी झाँक कर देखो। रावण ने पूछा – अच्छा, यह बताओ कि राक्षसों को किस अपराध के लिये मारा –

मारे निसिचर केहिं अपराधा।। ५/२१/३

रावण के अत्याचार के बारे में लिखा हुआ है – जिन-जिन गाँवों या नगरों में उसे गो-ब्राह्मण मिलते, उनमें आग लगवा देता। उसके प्रभाव से कोई भी सत्कर्म नहीं होते थे। देवता, विप्र तथा गुरु का कहीं सम्मान नहीं होता था। भक्ति, यज्ञ, तप, ज्ञान आदि लुप्त हो रहे थे। वेद-पुराणों की बातें तो सपनों में भी सुनने को नहीं मिलते थे –

जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं।
नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं।।
सुभ आचरण कतहुँ नहिं होई।
देव विप्र गुरु मान न कोई।।
नहिं हरि भगति जग्य तप ग्याना।
सपनेहुँ सुनिये न बेद पुराना।। १/१८३/६-८

हनुमानजी ने संकेत किया – तुमने स्वयं ही लाखों लोगों की हत्या और बरबादी की, तब तो तुम्हारे मन में न्याय-अन्याय का कोई प्रश्न नहीं उठा था। तुमने अकारण ही सबका वध किया और पर आज तुम्हारा अपना बेटा मर गया, तो तुम्हें न्याय-अन्याय सूझने लगा है। यह तो वैसे ही हुआ मानो कोई न्यायाधीश दस व्यक्तियों को फाँसी पर चढ़ा दे और यदि उसका अपना बेटा ही अपराधी के रूप के लाया जाय, तो वह अहिंसा पर भाषण देने लगे कि किसी की हिंसा तो सबसे बड़ा पाप है। यह तो उसका पाखण्ड ही कहा जायगा न! तुम दूसरों को मारोगे, तो बदले में तुम्हें क्या मिलेगा? तुम स्वयं तो अन्याय, अधर्म और पाप करते हो, पर चाहते हो कि तुम्हें इसका दण्ड नहीं मिलना चाहिये। पर यदि अन्य कोई थोड़ा भी कुछ करे, तो तुम न्यायधीश बनकर उसका दण्ड देने के लिये प्रस्तुत हो?

हनुमानजी का यह प्रश्न केवल रावण से नहीं, हम सभी से है। कहीं हम लोग भी तो इसी प्रकार न्यायधीश बनकर दूसरों के धर्म-अधर्म का निर्णय तो नहीं कर बैठते है? लेकिन रावण तो रावण ही है। वह इसे भला कैसे सह सकता है? उसने तत्काल कहा – अच्छा, तुम मुझे समझाने की चेष्टा कर रहो? आज्ञा दी – इसका सिर काट लो। सही बात कहने वाले का सिर काटने की आज्ञा दी गई। हनुमानजी मुस्कराते हुए शान्त भाव से खड़े हैं। अचानक विभीषणजी आ गये। उन्होंने कहा – दूत को मारना नीति के विरुद्ध है –

नीति बिरोध न मारिय दूता ।। ५/२४/७

रावण बोला – बिल्कुल ठीक ! रावण को बड़ा गर्व हुआ कि मैं कितना बड़ा धर्मात्मा हूँ, मैंने छोटे भाई की बात भी मान ली और अपराधी को छोड़ भी दिया। कई लोग ऐसे भी होते हैं कि हजार बुरे काम करने के बाद किसी की प्रेरणा से एक अच्छा काम कर दें, तो अपनी पीठ ठोंकते हैं, शाबासी देते हैं कि वाह-वाह मैं कितना बढ़िया काम करता हूँ।

बाद में जब अंगद आये, तब भी रावण ने कहा – बन्दर, मैं तो तुझे मार डालता, पर क्या बताऊँ, धर्म आड़े आ रहा है। दूत को मारना अधर्म है, इसलिये जा, मैं तुझे छोड़ रहा हूँ। अंगद तत्काल वैसा ही कड़वा उत्तर देते हैं – आपकी धर्मशीलता की प्रसिद्धि सुनकर ही तो मैं दर्शन करने चला आया। सुना कि लंका में एक बहुत बड़ा धर्मात्मा है, तो सोचा कि जाकर उनका दर्शन तो अवश्य करना चाहिये। आपकी धर्मशीलता का दृष्टान्त तो मुझे पहले ही मिल चुका है – परस्त्री को चुराने से बढ़कर और कौन-सा धर्म होगा? –

कह कपि धर्मसीलता तोरी ।
हमहुँ सुनी कृत पर त्रिय चोरी ।। ६/२२/५

जिस धर्म का आपने पालन किया है, उससे तुम सारे संसार में प्रसिद्ध हो गये। जब रावण के जैसे दुहरा मापदण्ड अपना करके धर्म की दुहाई दी जाय, तो फिर धर्म कहाँ रहा? एक सज्जन ने मुझसे कहा, देखिये न इतना अधर्म हो रहा है, ईश्वर अवतार क्यों नहीं लेता? मैंने कहा – आप बहुत निश्चिन्त मत रहिये। भगवान का अवतार साधुओं का उद्धार और दुष्टों का विनाश के लिये ही होता है –

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्क्रिताम् ।। गीता

जरा सोचिये कि आप 'विनाशाय च दुष्क्रिताम्' में आयेंगे या 'परित्राणाय साधुनाम्' में ! हम लोग तो बड़ी सरलता से गीता का श्लोक दुहराते हुए मान लेते हैं कि हम तो परम धर्मात्मा हैं ही; भगवान आयेंगे तो दूसरों को ही मारेंगे। परन्तु इस भ्रम में बिल्कुल मत रहियेगा। यह सूत्र ध्यान में रहे। 'परित्राणाय साधुनाम्' इसमें 'साधु' शब्द इतना सरल नहीं है कि हम स्वयं को प्रमाणपत्र दे सकें।

हनुमानजी ने एक बात कही, तो रावण उन्हें मारने को तैयार हो गया। छोड़ा, तो भी गर्व करने लगा – मैं इतना धर्मात्मा हूँ कि इसे मृत्युदण्ड से मुक्त कर दिया। पर बोला – ठीक है, मृत्युदण्ड तो नहीं, पर कुछ-न-कुछ दण्ड अवश्य देना है – बन्दर को अपनी पूँछ बड़ी प्यारी होती है, अत: इस की पूँछ में तेल में भीगे हुए कपड़े लपेटकर आग लगा दो –

कपि कें ममता पूँछ पर सबहि कहउँ समुझाइ ।
तेल बोरि पट बाँधि पुनि पावक देहु लगाइ ।। ५/२४

पूँछ में आग लगाये जाने के बाद हनुमानजी ने उसी से सारी लंका जला दी। अब कोई यदि उनसे पूछे – आपने लंका क्यों जलाई? तो हनुमानजी कहेंगे – मेरी लंका जलाने की कोई योजना नहीं थी; क्योंकि न मेरे पास घी था, न तेल था, न कपड़े थे और न आग थी। सारा प्रबन्ध तो रावण ने स्वयं किया। यदि बन्दर की पूँछ में आग लगाई जायगी, तो उछलना-कूदना तो उसका स्वाभाविक ही है। उस उछल-कूद में किसी का नगर जल गया, तो इसका प्रबन्ध उसी ने तो किया था। अपने ही कार्य का परिणाम उसने भोगा।

यहाँ सूत्र यह है कि धर्म के सन्दर्भ में, हम भ्रान्ति के कारण वही मानने की भूल कर बैठते हैं, जो रावण ने किया था। रावण ने कहा – अच्छा, इसे नगर में घुमाओ और घोषित करो कि चोर को यह दण्ड दिया गया है। हनुमानजी जब चले, तो सभी नगरवासी तालियाँ और ढोल बजाते हुए उनके पीछे-पीछे चल रहे थे –

बाजहिं ढोल देहि सब तारी ।। ५/२५/७

हनुमानजी ने चाहे जितना भी अच्छा भाषण दिया हो, पर राक्षसों को तो रावण का कहना ही उचित लग रहा है। ढोल बज रहा है, तालियाँ बज रही हैं। 'मानस' और 'कवितावली' रामायण में भी संकेत मिलता है कि लोग हनुमानजी को लात भी मारते हैं। हनुमानजी को लातें मारते हुए और गालियाँ देते हुए नगर में घुमाया जा रहा था। परन्तु जब लंका जलने लगी, तो लंका के ये ही लोग ऐसे बदले कि सब आपसे में कहने लगे – 'हमने तो पहले ही कहा था।'

हम लोगों को भी यही रोग है – 'हमने तो पहले ही कहा था', 'हम पहले से ही यह जानते थे' – ऐसी बात से लोग बड़े अभ्यस्त हैं। कोई घटना हो जाय, तो कहना नहीं भूलते – 'मैं तो पहले से ही जानता था कि ऐसा ही होगा।' कई लोग बोलते है – 'मैंने तो पहले ही कहा था।' अब कौन पूछे कि 'आपने किससे कहा था? कहाँ कहा था?' लंका के राक्षस भी कहते हैं – हमने तो पहले ही कहा था कि यह तो कोई देवता है, जो बन्दर का रूप बनाकर आ गया है।

हम जो कहा यह कपि नहिं होई ।
वानर रूप धरे सुर कोई ।। ५/२६/४

राक्षस कहते हैं कि हमने तो पहले ही कहा था। किससे कहा था? पता नहीं। अभी तो लात मार रहे थे, तालियाँ बजा रहे थे। जनसमूह कब किसे लात मारेगा और कब किसे देवता बना देगा, इसका कोई मापदण्ड नहीं है।

वस्तुस्थिति चाहे जैसी हो, पर व्यक्ति तो समाज का एक अंग है। अत: एक सूत्र दिया गया, उसके शब्दों पर ध्यान दें। एक सूत्र तो गुरु वशिष्ठ ने दिया कि सबके धर्म का पालन हो और सबका हित हो। ये दो शब्द साधारण महत्त्व के नहीं है। धर्म केवल वैयक्तिक नहीं, धर्म सबका होता है।

धर्म के सन्दर्भ में एक समस्या आती है। व्यक्ति को तो केवल अपने ही स्वार्थ और अपने ही स्वर्ग की चिन्ता रहती है और उसी को वह धर्म समझता है। इस सन्दर्भ में एक लघु गाथा है। बिहार और उत्तर प्रदेश की सीमा पर कर्मनाशा नदी है। उस नदी के विषय में यह मान्यता प्रचलित है कि यदि उसका जल शरीर से छू जाय या उसमें स्नान कर लें, तो व्यक्ति का सारा पुण्य नष्ट हो जाता है। परम्परावादी लोग इस पर विश्वास करते हैं। एक बार एक विवाह तय हुआ – दूल्हा बनारस का और कन्या कर्मनाशा के उस पार की। जिन विद्वानों को विवाह कराने जाना था, वे कहने लगे – हम तो नहीं जायेंगे। गर्मी के दिन हैं, नदी में इतना जल नहीं है कि नाव के द्वारा बिना जल का स्पर्श किये पार सकें। यदि पैदल चलकर पार करेंगे, तब तो हमारा सारा पुण्य चला जायगा। उस पार के गाँववालों ने कहा – आप लोग निश्चिन्त रहिये। हम अपने कन्धों पर बैठाकर आप लोगों को उस पार पहुँचा देंगे। – ठीक है, तब तो काम चल जायगा। जब उधर के गाँववाले इन्हें कन्धे पर बिठाकर ले जाने लगे, तो उनमें एक बेचारा फिसल गया और उसके कन्धे पर सवार आचार्यजी नदी में गिरे। जल इतना कम था कि उसमें डूबने का कोई प्रश्न ही नहीं था। वे बड़े क्रोध में आ गये और बोले – सर्वनाश हो तेरा, तूने मेरा सारा पुण्य नष्ट कर दिया।

यह धर्म हुआ क्या? हमारा स्वर्ग बचा रहे, इसलिये हम दूसरों के कन्धे पर बैठकर चलेंगे, भले ही उसका धर्म या पुण्य चला जाय, भले ही उसका सर्वनाश हो जाय। अपना पुण्य बचाने के लिये आप जिसके कन्धे पर बैठे हैं, उसका पुण्य नष्ट होगा, इसकी आपको जरा भी चिन्ता नहीं है। यदि वह कर्मनाशा नदी में पैर रखेगा, तो उसका भी तो पुण्य नष्ट हो जायगा। वह भी तो नर्क में जायगा। हम सोचते हैं – तुम भले ही नरक में जाओ, तुम्हारा चाहे कुछ भी हो, पर हमारा स्वर्ग सुरक्षित रहना चाहिये।

अब प्रश्न उठता है कि धर्म यदि केवल व्यक्तिगत उत्थान का साधन हो, तो क्या वह धर्म का सही रूप होगा? इसीलिये गुरु वशिष्ठ ने एक तो 'सब' शब्द का और दूसरा 'हित' शब्द का प्रयोग किया। 'हित' शब्द के प्रयोग का क्या है? कई चीजें खाने में मधुर तो होती हैं, स्वादिष्ट लगती हैं, पर हितप्रद नहीं होतीं; कुछ चीजें मधुर होती हैं और हितकर भी होती हैं; फिर कुछ ऐसी चीजें भी होती हैं, जो मधुर भले ही न हों, परन्तु हितकर होती हैं।

गुरु वशिष्ठ का तात्पर्य था कि यदि यही मान लिया जाय कि ऐसा निर्णय किया जाना चाहिये जो सबको अच्छा और मधुर लगे। वह तो ठीक है, पर साथ ही 'सब' और 'हित' का मापदण्ड देते हुए कहा – सबके धर्म की रक्षा हो और सबका हित भी हो। गुरुवशिष्ठ ने महाराज जनक के सामने जो दो सूत्र रखे, ये धर्म के सन्दर्भ में बड़े महत्त्वपूर्ण हैं।

महाराज मनु ने दीर्घ काल तक धर्मपूर्वक प्रजा का पालन किया और उसके बाद बूढ़े हो गये, तो उनके मन में विचार का उदय हुआ। यह सोचकर उनके मन में बड़ा दु:ख हुआ कि बुढ़ापा आ गया, पर मेरे जीवन का उद्देश्य पूरा नहीं हुआ। मैंने जिस धर्म का पालन किया, उसका जो फल होना चाहिये – विषयों से वैराग्य – वह नहीं हुआ –

तेहि मनु राज कीन्ह बहु काला।
प्रभु आयसु सब बिधि प्रतिपाला।। १/१४२/८
होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन।
हृदयँ बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु।।१/१४२

यही वह सूत्र है। धर्म पालन के द्वारा हम चाहते क्या हैं? धर्म क्या केवल क्रिया में ही है? या क्रिया के पीछे की भावना में है? या फिर धर्म क्या क्रिया और भावना में नहीं, बल्कि उसके परिणाम से जुड़ा हुआ है। धर्म के सन्दर्भ में ये तीन बड़े महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। मनु में विचार शक्ति है। उन्हें लगा कि हमारे जीवन में धर्म का जो परिणाम होना चाहिये, उसका उदय नहीं हुआ। और नहीं हुआ, तो क्यों नहीं हुआ? विचार का उदय होने पर अपना राज्य वे बलपूर्वक पुत्र को सौंप देते हैं और ईश्वर को प्राप्त करने वन में जाते हैं।

एक बड़ा सांकेतिक सूत्र है। धर्म का उद्देश्य क्या है? मीराजी ने गोस्वामीजी को लिखा था – शास्त्र कहते हैं कि परिवार के लोगों के प्रति व्यक्ति का यह-यह कर्तव्य है, तो मुझे क्या करना चाहिये? परिवार के लोग हमें भक्ति से रोकते हैं, हम क्या करें? गोस्वामीजी ने एक सूत्र में उत्तर दे दिया।

किसी ने सुना कि नित्य सोते समय अंजन लगाना धर्म है। हमारे यहाँ किसी भी बात को मनवाना होता था, तो उसे धर्म से जोड़ देते थे। इससे व्यक्ति जल्दी उसे मान लेता था। गोस्वामीजी ने व्यंग्य किया कि एक व्यक्ति नित्य रात को सोते समय अंजन लगाते थे। किसी ने पूछा – कितने साल से लगा रहे हो? – दस-बारह साल हो गये। – क्या अनुभव हुआ? बोले – पहले से कम दिखाई देने लगा। – आँख

फूट जाय, तो भी आप लगाते जाइये, क्योंकि लिखा है कि अंजन लगाना धर्म है। गोस्वामीजी ने कहा – ऐसा अंजन किस काम का, जिससे आँख ही फूट जाय?

अंजन कहा आँखि जेहि फूटै ।। वि. प. १७४

धर्म की एक कसौटी है, सर्वत्र वही कसौटी है। गोस्वामीजी ने कहा कि किसी रोगी को यह निर्णय करने में कठिनाई थोड़े ही होगी कि हमारा रोग बढ़ रहा है या घट रहा है? बड़ा बढ़िया सूत्र है। यदि कोई औषधि आप लें, तो इसकी औषधि के ग्रन्थों में क्या प्रशंसा की गई है, या दवा देनेवाला डॉक्टर उसको कितनी बड़ी औषधि मानता है – यह कसौटी थोड़े ही है? कसौटी तो यह है कि उसको लेने के बाद आपको कुछ अन्तर लगा या नहीं। यदि आपका कष्ट बढ़ जाय, दुर्बलता बढ़ जाय, रोग बढ़ जाय; तो उसे देनेवाले डाक्टर यदि नगर के, प्रदेश के या देश के सबसे बड़े डाक्टर हों और वह दवा दो हजार रुपयों की हो, तो क्या इसी के आधार पर रोगी दवा खाता जायगा। इससे तो व्यक्ति मर ही जायगा। गोस्वामीजी ने मन के रोगों की चिकित्सा के सन्दर्भ में कहा है कि गुरु ही वैद्य है, उनकी वाणी पर विश्वास होना चाहिये और श्रद्धा के अनुपान में भक्ति रूपी दवा खानी चाहिये –

सदगुरु बैद बचन बिस्वासा,
संजम यह न विषय कै आसा।
रघुपति भगति सजीवन मूरी,
अनूपान श्रद्धा मति पूरी ।। ७/१२२/६-७

वे इतना ही कहकर रुक नहीं गये। उन्होंने और भी कहा कि इस दवा को खाने के बाद इतने अन्तर आने चाहिये – एक तो भूख लगने लगे। दूसरा बिना किसी सहारे के उठने लगे। रोगी है तो बेचारा उठ नहीं पावेगा, किसी-न-किसी का सहारा लेकर ही उठता है। फिर रोगी बेचारा नहाने से डरता है। जब रोग मिटता है, तब नहाने की इच्छा होती है। गोस्वामीजी ने कहा कि यही कसौटी है। – क्या? बोले – भूख लगने लगेगी। – कौन-सी? पहला लक्षण है कि सुमति की भूख लगने लगी या नहीं? दूसरा, सहारा लेकर चलने की आदत छूटी या नहीं। क्या?

सुमति क्षुधा बाढ़इ नित नई।
विषय आस दुर्बलता गई ।। ७/१२२/१०

दूसरे का सहारा माने? हर समय कभी इस विषय का सहारा कभी उस विषय का सहारा – कभी रूप चाहिये, कभी रस चाहिये, गन्ध चाहिये। उन्होंने आगे कहा – इसके बाद वह ज्ञान के विमल जल में स्नान करता है, तो उसके मन में पवित्रता आती है और पूर्ण आरोग्य के रूप में उसके हृदय में भगवान की भक्ति निरन्तर वास करती है –

विमल ग्यान जल जब सो नहाई।
तब रह राम भगति उर छाई ।। १/१२२/११

ऐसी स्थिति जब आये, तो समझ लेना चाहिये कि व्यक्ति स्वस्थ हुआ। धर्म की भी यही कसौटी है। धर्म की क्रिया – हम क्या कर रहे हैं, इतना ही धर्म का मापदण्ड नहीं है। धर्म की दवा कड़वी भी हो सकती है। पर धर्म का जो परिणाम होना चाहिये, वह हमें देख लेना चाहिये। मनु को लगा कि धर्म का सही परिणाम होना चाहिये, वह अभी जीवन में नहीं आया है। तब उन्होंने उस दिशा में बढ़ने की चेष्टा की जिसे उन्होंने धर्म के फल के रूप में देखा।

प्रतापभानु की समस्या यही है। वह भी वन में गया और मनु भी वन में गये। एक ने मन में 'दशमुख' बनने की भूमिका को लेकर लौटा और दूसरा भगवान श्रीराम को पुत्र के रूप में पाने का – 'दशरथ' बनने का वरदान लेकर लौटा। इसमें महत्त्व का सूत्र यह है कि दोनों के जीवन में धर्म होते हुए भी एक व्यक्ति वन में भटक गया। बड़ी सांकेतिक भाषा है। वह भूखा-प्यासा वन में भटक गया।

खेद खिन्न छुदित तृषित
राजा बाजि समेत।
खोजत व्याकुल सरित सर
जल बिनु भयेउ अचेत ।। १/१५७

यह स्थिति जब जीवन में आती है, जब हम संसार के वन में भटक जाते हैं, तब हम दशमुख बन सकते हैं। भले ही हम समझ बैठे हो कि हमने जीवन में धर्म का पालन किया है। परन्तु मनु के समान यदि हम धर्म के परिणाम पर दृष्टि रखेंगे, तो हमारे जीवन में भगवान का आविर्भाव होगा। इस पृष्ठभूमि के विस्तार का उद्देश्य यही है कि इन चरित्रों के आधार पर हम निर्णय करें कि धर्म वस्तुत: है क्या?

धर्म का जो परिणाम होना चाहिये, वह जीवन में दिखाई दे, तभी हम सही अर्थों में धर्म के रहस्यों को समझ करके हृदयंगम करने की चेष्टा करेंगे। अन्यथा धर्म के नाम पर कलंक लगना स्वाभाविक ही हो सकता है। यदि धार्मिक कहा जानेवाला कोई व्यक्ति अन्याय करे, तो उसका दोष धर्म के सिर मढ़ देना विवेकपूर्ण नहीं है, पर ऐसी प्रवृत्ति होती है। आगे हम धर्म के विविध पक्षों पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

❖ (क्रमश:) ❖

जीवन की सार्थकता

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

बहुधा हमारे मन में प्रश्न उठता है कि यह जीवन क्या है? मनुष्य सोचता है कि जिस दिन उसने जन्म लिया और जिस दिन मृत्यु के कराल गाल में समा जाएगा, इस बीच की अवधि का, जिसे हम 'जीवन' के नाम से पुकारते हैं, क्या कोई उद्देश्य है? अथवा क्या मानव-जीवन प्रवाह-पतित तिनके की नाईं है, जो पानी के थपेड़े खाता हुआ, निरुद्देश्य इधर-उधर अटकता-भटकता, एक दिन काल सागर में जाकर मिल जाता है? ये मानव-मन में उठनेवाले बुनियादी प्रश्न हैं, जिनका उत्तर मनुष्य चाहता है। यदि जीवन समझ में आये, तो जीवन का उद्देश्य भी समझ में आएगा, और जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति ही जीवन की सार्थकता होगी।

पियरे टेलार्ड डे शार्डां नामक फ्रेंच विद्वान् ने अपने The phenomenon of man नामक ग्रन्थ में मनुष्य के जीवन को समझने के लिए पशु और मनुष्य के अन्तर को समझना चाहा है। वे वैज्ञानिक थे, इसलिए वैज्ञानिक प्रणाली से वे पशु और मनुष्य के अन्तर को जानना चाहते थे। प्रयोगों से उन्होंने देखा कि जहाँ तक चमड़ी, रक्त, मेदा, हड्डी, माँस आदि का प्रश्न है, पशु और मनुष्य में कोई भेद नहीं है। पर उन्हें एक अन्तर यह दिखा कि मनुष्य के भेजे में कुछ जीवाणुकोष ऐसे हैं, जो सक्रिय हैं; जबकि पशु के भेजे में वे सक्रिय नहीं हैं। जानने की प्रक्रिया मनुष्य और पशु दोनों में समान है, पर मनुष्य के भेजे में जीवाणुकोष की सक्रियता के कारण मनुष्य और पशु में जो अन्तर पड़ता है, उसे उन्होंने यों व्यक्त किया है – "An animal knows and a man knows, but an animal does not know that he knows, while a man knows that he knows." – अर्थात् "पशु भी जानता है और मनुष्य भी जानता है, पर पशु यह नहीं जानता कि वह जानता है, जबकि मनुष्य यह जानता है कि वह जानता है।"

तात्पर्य यह कि पशु को अपने ज्ञान का बोध नहीं होता, जबकि मनुष्य को अपने ज्ञान का बोध होता है, मनुष्य जानता है कि वह जान रहा है। इसलिए मनुष्य अपनी चित्तवृत्तियों को सुश्रृंखल बना ले सकता है और उनकी सार्थकता के सम्बन्ध में प्रश्न कर सकता है। शार्डां यह विश्लेषण करके अन्त में पशु और मनुष्य का अन्तर स्थापित करते हुए कहते हैं कि पशु कभी भी अपने आपसे यह नहीं पूछता कि मेरे जीवन का क्या प्रयोजन है, जबकि मनुष्य कभी-न-कभी अपने आपसे यह अवश्य पूछता है कि मेरे जीवन का क्या प्रयोजन है।

पशु और मनुष्य के इसी अन्तर को एक संस्कृत सुभाषित में प्रकारान्तर से रखते हुए कहा गया है –

आहारनिद्राभय मैथुनञ्च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
एको हि तेषां धर्मो विशेषः
तेनैव हीनाः पशुभिः समानाः॥

– अर्थात् "जहाँ तक भोजन, निद्रा, भय और प्रजनन की वृत्तियों का प्रश्न है, ये जैसे मनुष्य में है, वैसे ही पशु में भी। मनुष्य में एक 'धर्म' की वृत्ति अधिक होती है। मनुष्य यदि उससे हीन हो, तो यथार्थतः वह पशु के ही समान है।"

इस विवेचन से स्पष्ट है कि मनुष्य जीवन की विशेषता 'धर्म' में है। अब प्रश्न उठता है कि यह 'धर्म' क्या है? स्वामी विवेकानन्द की धर्म सम्बन्धी व्याख्या मननीय है। वे कहते हैं – "Religion is the manifestation of the divinity already in man." - अर्थात् "मनुष्य में पहले से विद्यमान दिव्यत्व की अभिव्यक्ति को धर्म कहते हैं।" स्वामीजी का एक दूसरा उद्धरण भी इस सन्दर्भ में विचारणीय है, जहाँ उन्होंने कहा है – "Each soul is potentially divine, the goal is to manifest this Divinity within, by controlling nature external and internal." – अर्थात् "प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्तःप्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है।"

अब हम समझ पाएँगे कि जीवन को सार्थक कैसे किया जाय। हम जितनी मात्रा में अपने इस अन्तःस्थ दिव्यत्व या ब्रह्मभाव को अभिव्यक्त करने में समर्थ होंगे, हमारा जीवन उतनी ही मात्रा में सार्थक होगा। इसके लिए सबसे सक्षम उपाय है – दूसरों का दुःख-दर्द अनुभव कर उनके लिए जीने की चेष्टा करना। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे – 'जो अपने लिए जीता है, उसमें कोई विशेषता नहीं, क्योंकि पशु भी तो अपने लिए जीते हैं। वास्तव में वे ही जीवित हैं, जो दूसरों के लिए जीते हैं।' अतएव निष्कर्ष यह निकला कि जो जितनी मात्रा में दूसरों के लिए जीता है, उसका जीवन उतनी ही मात्रा में सार्थक होता है। ❑❑❑

सारगाछी की स्मृतियाँ (१६)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुये वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और ब्रह्मचारी बोधमय चैतन्य ने किया है, जिसे विवेक ज्योति के पृष्ठों में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – संपादक)

२६-१२-१९५९

महाराज – देखो, सर्वदा तुम लोगों को पाठ, अध्ययन अथवा किसी गम्भीर आध्यात्मिक विषय को लेकर चर्चा करनी चाहिये। तुम लोग जो हँसी-मजाक करते हो, उससे मुझे दुख होता है। जब मैं बात कर सकता था, तब सदा जोर से बोलकर यह सब चर्चा बन्द रखता था।

एक संन्यासी अपनी कमीज में स्वर्ण वर्ण का बटन पहने हुये हैं, देखकर महाराज ने कहा – "जैसे संन्यासी को लड़की की ओर नहीं देखना चाहिये, वैसे ही सोने की ओर भी नहीं देखना चाहिये, यह सब परमहंसोपनिषद में है।"

३०-१२-१९५९

सेवक – महाराज, गीता में है "प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रह: किं करिष्यति।" इस निग्रह का अर्थ क्या है ?

महाराज – इन्द्रिय-निग्रह। बल पूर्वक इन्द्रिय निग्रह करने से कुछ नहीं होता। जैसे केवल व्रत उपवास इत्यादि से कुछ नहीं होता। जितना ही तुम ईश्वर की ओर आगे बढ़ोगे, उतनी ही इन्द्रियों के प्रति आसक्ति कम होती जायेगी, तब तुम्हें बल पूर्वक निग्रह नहीं करना पड़ेगा। जितना ही तुम पूर्व दिशा की ओर जाओगे, उतना ही पश्चिम दिशा दूर होती जायेगी। ईश्वर के प्रति प्रेम होने के लिये जैसी आवश्यकता है, स्वभाविक रूप से वैसा ही निग्रह भी होगा।

गीता का श्लोक पढ़कर उसे अपने जीवन में कितना उतार सकते हो, उसे देखना होगा। श्लोक का सामान्य अर्थ जान कर दिनभर उस पर चिन्तन करते-करते उसके सम्बन्ध में धारणा स्पष्ट हो जायेगी।

ऋषिकेश के स्वर्गाश्रम में तीन साल रहा। एक बरसात के मौसम में दो चिड़ियाँ आकर गिली मिट्टी से घोसला बनाने का प्रयास कर रही थीं, किन्तु वे असफल रहीं। दूसरे साल भी घोसला नहीं बना पायीं। तीसरे वर्ष आने पर तब तक वे दोनों चिड़ियाँ वृद्ध हो चुकी थीं। बहुत कष्ट और प्रयास से घोसला बनायीं, किन्तु कड़ी मिट्टी से नहीं। दोनों चिड़ियों के बच्चे हुये। वहाँ मैं डर से नहीं जाता था कि कहीं वे मुझे देख कर भाग न जायँ। एकदिन मैंने देखा कि दोनों बच्चे मरे पड़े हैं। उन दोनों पक्षियों को कितनी वेदना थी ! वे दोनों कभी यहाँ, कभी वहाँ उड़कर बैठते थे और करुण भाव से घोसला के पास उड़ कर जाते थे और फिर वापस आते थे !

प्रश्न – महाराज, ईश्वर दर्शन क्या है?

महाराज – ईश्वर केवल किसी एक स्थान में नहीं रहते हैं। उन्हें प्राप्त करने पर मनुष्य का शरीर ही तब ईश्वरमय हो जाता है। हम लोगों को समझाने के लिए कहते हैं कि हृदय में ईश्वर हैं। क्योंकि हृदय बहुत ही संवेदनशील होता है। ये सब बातें वेद में भी हैं। उसमें यह भी है कि दाहिनी आँख में ईश्वर की कल्पना करना। ठाकुरजी कहते हैं – मनुष्य क्या कम है? मनुष्य अनन्त का चिन्तन कर सकता है। तुम नहीं जानते हो कि तुम्हारे अंदर क्या शक्ति है। जिस शक्ति से सम्पूर्ण पृथ्वी चल रही है, तारे एवं नक्षत्र घूम रहे हैं, वही शक्ति तुम्हारे अन्दर विद्यमान है। साधना के द्वारा मनुष्य इस शक्ति का स्पर्श कर सकता है, उसे प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न – महाराज, आप तो ईश्वर प्राप्ति की बात कह रहे हैं, किन्तु आश्रम में तो केवल कर्म, कर्म और कर्म है। यहाँ चैतन्य का चिन्तन कैसे सम्भव होगा ?

महाराज – वे चैतन्यघन सत्ता हैं। तुम्हारे अन्दर भी वही चैतन्य सत्ता है। कोशिश करने से ही जान पाओगे। जैसे गोपाल-की-माँ का गोपाल है। देखो, अभी परीक्षा की डिग्री का कितना महत्व है! कितना आदर और सम्मान है! किन्तु उन्हें पाने के लिये इन सब से मन को हटाना पड़ेगा ही। या तो उन्हें (ईश्वर को) प्राप्त करने की अभिलाषा रखो, नहीं तो संसार को लेकर उन्मत्त रहो। जैसे तुम सब कुछ छोड़कर यहाँ आये हो, इसलिए मैं तुम्हें प्यार करता हूँ, वैसे ही सब कुछ छोड़कर उन्हें (ईश्वर को) पकड़ने से वे भी तुम्हें प्यार करेंगे। सबेरे से ठीक कर लेना कि हमारी ऊर्जा-शक्ति थोड़ी सी भी व्यर्थ न जाय। सबेरे निद्रा से ऊठूँगा, ठाकुर जी का ध्यान करूँगा, उनकी सेवा करुँगा – इस प्रकार एक निष्ठा बना डालो।

३१-१२-१९५९

सेवक – महाराज, भोग का अन्त नहीं होने से व्याकुलता नहीं होती। ऐसा भी है – "न जातु काम: कामानामुपभोगेन शाम्यति।" इन दोनों में कैसे सामंजस्य होगा?

महाराज – अभी सुनकर रखो, बाद में स्वयं ही समझ

सकोगे। दोनों अलग-अलग दृष्टिकोण से लिखा गया है, इसलिये ऊपर-ऊपर से परस्पर विरोधी प्रतीत हो रहा है, किन्तु वास्तव में वैसा नहीं है।

१-१-१९६०

एक प्रसंग में महाराज ने कहा कि ईसा मसीह की क्या करुणा थी ! यद्यपि रोग ठीक कर देना कोई विशेष महत्वपूर्ण बात नहीं है। किन्तु उनकी कितनी अपार करूणा थी, वह विचारणीय है।

प्रश्न – निद्रा और मृत्यु में क्या भेद है?

उत्तर – निद्रा में भी चेतना अज्ञान में विलीन होती है और मृत्यु में भी वैसे ही होता है। निद्रा में प्राण के संवेग Momentum में कार्य होता है एवं निद्रा के बाद पहले के सारे सम्बन्ध रह जाते हैं, किन्तु मृत्यु में प्राण बीज रूप में मन-बुद्धि के साथ Potential अव्यक्त रूप में रहता है तथा past association (अतीत का सम्बन्ध) नये association सम्बन्ध के साथ स्वयं को जोड़ लेता है।

जब हम लोगों का जन्म हुआ था, तब यह समाज सड़ चुका था। इसलिये तो ठाकुर आये।

एक चिकित्सक ने आकर पूछा – महाराज, ठाकुरजी की सच्ची संतान कौन है? क्या हम लोग भी उनकी संतान होंगे?

महाराज – हाँ, जो भी उनके साथ आत्मीयता का बोध करेगा, वही उनकी संतान है। स्वामी ब्रह्मानन्द जी उनकी संतान हैं और तुम भी उनकी ही संतान हो।

चिकित्सक – किन्तु महाराज ! संतान तो पिता को पहचान नहीं पा रहा है।

महाराज – तो भी, है तो उनकी ही संतान।

सेवक – क्या अजपा का अर्थ हंस, सोऽहं नाद करना है?

महाराज – जो सर्वदा 'हरि हरि' कह रहा है, क्या वह अजपा नहीं होगा?

सेवक स्वामीजी के द्वारा लिखित – 'ॐ ह्रीं ऋतं' पढ़ रहा है।

महाराज – देखो, इसमें पाठान्तर है। स्वामीजी की इस रचना में कुछ व्याकरण की त्रुटियाँ थीं। उसे सुधार दिया गया है। 'स्वामी-शिष्य संवाद' में देखना कि एक स्थान पर स्वामीजी शिष्य से कह रहे हैं 'इस लेख को देख लेना, गलती रहने से सुधार देना।' किन्तु शरतचन्द्र चक्रवर्ती ने कहा था कि आपकी गलती को हमलोग 'आर्ष-प्रयोग' समझेंगे। हमलोग भी स्वामीजी के मूल लेखों को ही महत्व देते हैं और गलती को आर्ष-प्रयोग मानते हैं।

३-१-१९६०

एक भक्त स्वामीजी की तिथि-पूजा के उपलक्ष्य में सभा का आयोजन कर रहे हैं।

महाराज – बहुत अच्छा, लड़कों को बताना आवश्यक है। क्या केवल प्रसाद और महोत्सव करने से होगा? प्रचार नहीं रहने से कुछ भी स्थायी नहीं होता। मैं भी उत्सव करता था। जैसे बेर के पेड़ को पहले हिलाना पड़ता है, उसके बाद पके हुये बेरों को उठा लेना पड़ता है। वैसे ही उत्सव में विभिन्न वर्गों के लड़के एकत्रित होते थे। उनमें से लड़कों को छाँट-छाँट करके उनमें ठाकुर-माँ स्वामीजी के विचारों को प्रवेश कराने का प्रयास करता था। जिन लड़कों का चित्तशुद्ध होगा, उन लोगों के कान में रामकृष्ण नाम अच्छा लगेगा ही, उन्हें मुग्ध करेगा ही करेगा। इसीलीये तो स्वामीजी ने कहा था – धूम मचा देते हो।

५-१-१९६०

सेवक – मठ की नियावली में है कि ठाकुरजी १०० साल इस शरीर में रहेंगे। तो क्या १०० वर्ष के बाद उनका दर्शन नहीं होगा?

महाराज – मैं इसका सही उत्तर नहीं दे पाऊँगा। पर मेरी धारणा है कि स्वामीजी कहना चाहते थे – ठाकुर १०० साल तक सूक्ष्म शरीर में रहेंगे, उसके बाद कारण शरीर में चले जायेंगे, अर्थात् जितने दिन सूक्ष्म शरीर में रहेंगे, उतने दिन उन्हें आसानी से पाया जा सकेगा, पर कारण-शरीर में चले जाने से वे आसानी से प्राप्त नहीं हो सकेंगे।

सेवक – ठाकुर जी का दर्शन तो हो जायेगा, यहाँ तक कि शरीर का स्पर्श करके भी देखा जा सकेगा। जैसे विजय गोस्वामी ने दर्शन किया था, किन्तु क्या स्वामी शिवानन्द, स्वामी विशुद्धानन्द को भी ठीक वैसे ही देखा जा सकेगा?

महाराज – क्यों नहीं देखा जा सकेगा? उस परब्रह्म का जो जैसे ध्यान करेगा, ठीक वैसे ही उनका दर्शन करेगा। "ये यथा मां ...।" किन्तु ठाकुरजी का दर्शन करना और स्वामी शिवानन्दजी का दर्शन करना, एक समान नहीं है। वह एक दूसरे राज्य — लोक की बात है। देह, प्राण एवं मन के अतीत शुद्ध बुद्धि में जाने के बाद ये सब दर्शन होते हैं।

सेवक – महाराज क्या नन्दलाल बोस एवं यदुलाल मल्लिक के जीवन में बाद में परिवर्तन हुआ था?

महाराज – अवश्य ही, ठाकुरजी ने जिसकी ओर दृष्टिपात किया है, उसकी मुक्ति होगी ही।

सेवक – केवल दृष्टि से ही मुक्ति होगी?

महाराज – "वीक्षणे मोह जाय।" अवतार के केवल दृष्टि से ही मुक्ति होगी।

❖ (क्रमशः) ❖

स्वामी विवेकानन्द की कथाएँ और दृष्टान्त

(स्वामीजी अपने व्याख्यानों में दृष्टान्त आदि के रूप में बहुत-सी कथा-कहानियों तथा दृष्टान्तों का वर्णन किया है, जो १० खण्डों में प्रकाशित 'विवेकानन्द साहित्य' तथा अन्य ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं। उन्हीं का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

३. विल्वमंगल की कहानी

'भक्तमाल' नामक एक भारतीय पुस्तक में यह कहानी वर्णित है। किसी गाँव में एक ब्राह्मण नवयुवक रहता था। वह नवयुवक एक दूसरे गाँव की एक गणिका स्त्री से प्रेम करने लगा। दोनों गाँवों के बीच एक बड़ी नदी बहती थी और वह नौजवान प्रतिदिन एक नाव से नदी पार करके अपनी प्रेमिका के पास जाया करता था।

एक दिन उसे अपने पिता की अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न करनी थी; अत: वह अपनी प्रेमिका के पास जाने के लिये अत्यन्त व्याकुल था, उसके विरह में मानो मर रहा था, तथापि वह जा नही सकता था। अन्त्येष्टि-क्रिया तथा उससे सम्बन्धित सारे अनुष्ठानों को पूरा करना आवश्यक था। हिन्दू समाज में यह पूर्णत: अपरिहार्य होता है। उसे मन-ही-मन बड़ी खीझ आ रही थी, परन्तु वह लाचार था। आखिरकार अनुष्ठान समाप्त हुआ। तब तक रात हो चुकी थी और भयानक आँधी-तूफान चल रहा था। मूसलाधार वर्षा हो रही थी, नदी में भी भयंकर लहरें उठ रही थीं। ऐसे में नदी पार करना बड़ खतरनाक था। तो भी वह नदी के तट पर जा पहुँचा। उस समय वहाँ कोई नाव उपलब्ध नहीं थी। नदी का रुख देखकर मल्लाहों का साहस जवाब दे चुका था। परन्तु उसे तो जाना ही था, उसका मन उतावला हो रहा था, अपनी प्रेयसी के विरह से तड़प रहा था, अत: वह अवश्य जायेगा। उसने लकड़ी का एक कुन्दा बहकर जाते हुए देखा। उसने उसी को पकड़ा और उसी के सहारे नदी के पार पहुँच गया। दूसरे तट पर पहुँचकर उसने उस कुन्दे को पानी से बाहर निकालकर किनारे डाल दिया और प्रेयसी के घर जा पहुँचा।

घर के द्वार बन्द थे। उसने द्वार खटखटाया, परन्तु आँधी -तूफान के शोर के बीच किसी ने उसकी पुकार नहीं सुनी। वह घर के चारों ओर घूमा और अन्त में देखा कि दीवार से रस्सी जैसी कोई चीज लटक रही है। उसने उसी को पकड़ लिया और मन-ही-मन सोचने लगा, "अहा, मेरी प्रेयसी ने मेरे ऊपर चढ़ने के लिए रस्सी लटका रखा है।" वह उसी के सहारे दीवार पर चढ़ा और दूसरी ओर पहुँच गया। परन्तु तभी उसका पाँव फिसला और वह जोरों की आवाज के साथ नीचे गिर पड़ा। उस आवाज से घर के लोग जाग गये। स्त्री ने बाहर आकर देखा कि नौजवान बेहोश पड़ा है।

वह किसी तरह उसे होश में लायी और पाया कि उसके शरीर से भयंकर दुर्गन्ध आ रही है। उसने पूछा, "तुम्हें क्या हो गया है? तुम्हारे शरीर से इतनी दुर्गन्ध क्यों आ रही है? तुम घर में कैसे आये?" प्रेमी बोला, "क्यों, तुम्हीं ने तो मेरे लिए रस्सी लटका रखा थी?" गणिका मुस्कुरायी और बोली, "कैसा प्रेम? हम लोग तो धन के भूखे हैं और तुम सोचते हो कि मैं तुम्हारे लिए रस्सी लटकाऊँगी! तुम भी अच्छे मूर्ख हो। अच्छा बताओ, तुमने नदी कैसे पार की?" वह बोला, "क्यों, मैंने एक बहते हुए कुन्दे को पकड़ लिया था।" गणिका ने कहा, "चलो तो, जरा देख लें।" वह रस्सी नहीं, एक भयानक विषधर नाग था, जिसके जरा-सा डस देने ही मृत्यु निश्चित थी। जब उसने रस्सी समझकर साँप की पूँछ पकड़ी थी, उस समय वह अपने बिल में जा रहा था और उसका सिर बिल के भीतर था। प्रेम के पागलपन से विवश होकर ही उसने ऐसा किया था। जब साँप का सिर बिल में और बाकी शरीर बाहर हो, तब उसे पकड़े जाने पर वह अपना सिर बाहर नहीं निकालता। इसी कारण नौजवान उसे पकड़कर ऊपर चढ़ गया था, पर उसके शरीर के बोझ तथा खिंचाव से सर्प मर चुका था। – "तुम्हें कुन्दा कहाँ मिला?" – "वह नदी में बहा जा रहा था।" वह कुन्दा एक सड़ा हुआ मृत देह था। जल की धारा ने उसे तट के पास पहुँचा दिया था और प्रेमी ने उसे कुन्दा समझा था; इसीलिये उसके शरीर से इतनी भयानक दुर्गन्ध आ रही थी।

गणिका ने उसकी ओर देखा और बोली, "मैंने प्रेम जैसी किसी चीज में कभी विश्वास नहीं किया। हम लोग कभी प्रेम आदि नहीं करते। परन्तु, हे भगवान, यह यदि प्रेम नहीं है, तो क्या है! हम लोग नहीं जानते कि प्रेम क्या है। लेकिन मेरे प्रेमी, तुमने मुझ जैसी स्त्री को अपना दिल क्यों दिया? यह दिल तुमने ईश्वर को क्यों नहीं दिया? यदि ऐसा करते, तो शायद तुम उन्हें पा लेते।" उस युवक के दिलो-दिमाग पर मानो बिजली-सी कौंध गयी। क्षण भर के लिये उसे उस लोक की झलक-सी दिखाायी दी। – "क्या ईश्वर-जैसा कुछ है?" स्त्री बोली, "हाँ, हाँ, मेरे मित्र, ईश्वर है," स्त्री ने कहा। वह व्यक्ति वहाँ से चल पड़ा। वन में जा पहुँचा और रोने तथा ईश्वर से प्रार्थना करने लगा – "हे प्रभो, मैं तुम्हीं को चाहता हूँ! मेरे प्रेम का यह ज्वार किसी क्षुद्र मानव-पात्रों में नहीं समा सकता। जिसमें मेरे प्रेम की यह महानदी समा सके, मैं उस विराट् समुद्र से प्रेम करना चाहता हूँ। मेरे प्रेम की यह उफनाती महानदी छोटे-मोटे पोखरों में नहीं समा सकती, यह असीम सागर को चाहती है। हे प्रभो! वह सागर वह तुम्हीं हो, मेरे पास आओ।"

इसी प्रकार उसने उस वन में कई साल बिता दिये।

वर्षों बाद उसे लगा कि उसे अपनी साधना में सफलता मिल गयी है। वह संन्यासी हो गया और नगर की ओर चला। एक दिन वह एक नदी के किनारे घाट के पास बैठा हुआ था। एक परम सुन्दरी युवती अपनी सेविका के साथ वहाँ स्नान करने आयी और लौटते हुए उसके सामने से गुजरी। वह नगर के साहूकार की पत्नी थी। संन्यासी के मन में पुराने संस्कार जाग उठे। उस सुन्दर चेहरे ने उसे पुन: आकृष्ट कर लिया। वह टकटकी लगाये उसे देखता रहा, फिर उठकर उस स्त्री के पीछे-पीछे उसके घर जा पहुँचा।

तभी उसका पति आ पहुँचा और गेरुआ वस्त्र पहने साधु को देखकर बोला, "आइए महाराज, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?" साधु ने कहा, "मैं तुमसे एक भयानक बात कहूँगा।" – "आप कुछ भी माँगिये, मैं एक गृहस्थ हूँ और मुझसे जो कोई भी कुछ माँगता है, मैं देने को तत्पर रहता हूँ।" – "मैं तुम्हारी पत्नी को देखना चाहता हूँ।" साहूकार ने कहा, "यह क्या महाराज? पर मैं पवित्र हूँ, मेरी पत्नी भी पवित्र है, पर ईश्वर सबकी रक्षा करता ही है। आइये महाराज, भीतर आइये।" साधु भीतर गया। पति ने उससे अपनी पत्नी का परिचय कराया। स्त्री ने भी पूछा, "मैं आपकी क्या सेवा कर सकती हूँ?" योगी उसकी ओर एकटक देखता रहा और उसके बाद बोला, "माँ, क्या तुम मुझे अपने बालों में से दो काँटे दे सकोगी?" – "ये रहे काँटे!" योगी ने दोनों काँटे लेकर अपनी दोनों आँखों में घोप लिया और बोला, "दुष्ट आँखों, दूर हो जाओ। अब कभी कोई हाड़-मांस देखकर मत ललचाना। यदि तुम्हें देखना ही हो, तो अन्तरात्मा की आँखों से वृन्दावन के उस ग्वाले को देखना। अब वही तुम्हारी आँखें है!" वह फिर वन में चला गया। वहाँ वह फिर खूब रोता रहा। यही प्रेम की वह महाधारा थी, जो उसमें सर्वोच्च तत्त्व की प्राप्ति के लिए संघर्ष कर रही थी और अन्तत: उसे सफलता मिली। उसने अपने हृदय की प्रेमधारा को उचित दिशा में परिचालित किया, जिससे वह उस ग्वाले के पास पहुँच गया। कथा आगे बताती है कि उसने ईश्वर का कृष्ण के रूप में दर्शन किया था।

एक बार उन्हें दुख हुआ कि वे नेत्रहीन हैं और केवल मन की आँखों से ही देख सकते हैं। उन्होंने प्रेम-विषयक एक अति सुन्दर काव्य लिखा। संस्कृत के कवि सर्वप्रथम अपने गुरुओं को प्रणाम करते हैं। उन्होंने भी अपने प्रथम गुरु के रूप में उस स्त्री को ही प्रणाम किया है। (७/१९४-९६)

४. संसार के विषय में दो तरह के दृष्टिकोण

इंगरसोल अमेरिका में एक प्रसिद्ध अज्ञेयवादी (दार्शनिक) हैं। वे एक अत्यन्त सज्जन व्यक्ति हैं और एक बड़े अच्छे वक्ता भी हैं। उन्होंने धर्म-विषयक एक व्याख्यान दिया। उसमें उन्होंने कहा कि हमें धर्म की कोई जरूरत नहीं, परलोक को लेकर अपना दिमाग खराब करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं। अपनी बात को समझने के लिए उन्होंने एक उदाहरण देते हुए कहा, "संसार मानो एक सन्तरा है और हम उसका पूरा रस निचोड़ लेना चाहते हैं।"

एक बार मेरी उनसे भेंट हुई। मैंने उनसे कहा, "मैं आपके साथ पूरी तौर से सहमत हूँ।" मेरे पास भी एक फल है और मैं भी इसका सारा रस निचोड़ लेना चाहता हूँ। पर केवल फल को लेकर ही मेरा आपसे मतभेद है। आप सन्तरा चाहते हैं और मैं आम पसन्द करता हूँ। आप सोचते हैं कि संसार में रहकर खूब खा-पी लेने और थोड़ी वैज्ञानिक जानकारियाँ हासिल कर लेना ही काफी है; परन्तु आपको यह कहने का कतई अधिकार नहीं कि ऐसा ही जीवन सबके लिये मन को भायेगा। मुझे तो ऐसी धारणा बिल्कुल तुच्छ लगती है। यदि जीवन का उद्देश्य मात्र यही जानना हो कि सेव किस प्रकार धरती पर गिरता है या विद्युत् का प्रवाह कैसे हमारी स्नायुओं को उत्तेजित करता है, तब तो मैं आत्महत्या कर लूँगा!

मैं तो सभी वस्तुओं का मर्म समझना चाहता हूँ – जीवन के मूल रहस्य को जानना चाहता हूँ। आप जीवन की केवल अभिव्यक्तियों को जानना चाहते हैं, परन्तु मैं तो जीवन को ही समझना चाहता हूँ। मेरा दर्शन कहता है कि जगत् और जीवन का सारा रहस्य जान लेना होगा; और पृथ्वी के समान ही स्वर्ग-नरक आदि के सारे अन्धविश्वासों को छोड़ देना होगा। मैं केवल जीवन की प्रक्रियाओं तथा अभिव्यक्तियों को ही नहीं जानूँगा; अपितु मैं जीवन के अन्तरंग को जानूँगा, इसके सार को, इसके सच्चे स्वरूप को जानूँगा। मैं हर चीज का 'क्यों' जानना चाहता हूँ – 'कैसे होता है' की खोज बालक करते रहें। विज्ञान और है क्यों? आपके एक देशवासी का कहना है, "सिगरेट पीते समय जो-जो होता है, वह सब यदि मैं लिख डालूँ, तो वही सिगरेट-विज्ञान हो जायगा।"

वैज्ञानिक होना अच्छा है, गौरव की बात है – परमात्मा उनकी खोजों में सहायता करें; परन्तु जब कोई कहता है कि इतना ही पर्याप्त है, तो उसकी बातें मूर्खतापूर्ण है, क्योंकि वह जीवन का उद्देश्य जानने की परवाह नहीं करता, वह कभी जीवन का अध्ययन नहीं करता। मैं तर्क द्वारा सिद्ध कर सकता हूँ कि तुम्हारा सारा ज्ञान बकवास और निराधार है। तुम केवल जीवन की अभिव्यक्तियों का अध्ययन कर रहे हो; पर जब मैं पूछता हूँ कि जीवन क्या है, तो चुप्पी साध लेते हो। ठीक है, तुम अपनी रुचि के अनुसार अध्ययन करते रहो, परन्तु मुझे अपने भाव में रहने दो।" (२/१४४-४५)

❖ (क्रमश:) ❖

स्मृतियों का गुलदस्ता

ब्रह्मचारी अक्षयचैतन्य

(श्रीरामकृष्ण अपने भक्तों के बारे में कहते, 'यह मेरा भाँति-भाँति के फूलों का गुलदस्ता है'। सबको लेकर ही उनके 'प्रेम के बाजार में आनन्दमेला' लगा था। संकलक ने माँ की जीवनी लिखने हेतु उनके बहुत-से शिष्यों-भक्तों से उनके बारे में अनेक बातें एकत्र की थीं। जीवनी प्रकाशित होने के बाद भी माँ की कुछ उक्तियाँ या विशेष परिस्थितियों में उनके व्यवहार के विवरण – उनके पास बच गये थे। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' के तीसरे भाग से उन्हीं का श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है – सं.)

१२. उमेशचन्द्र दत्त

जयरामबाटी में दोपहर के दो बजे माँ के घर के अन्दर जाकर मैंने देखा, माँ राधू के बच्चे को पाँवों पर रखे बैठी हैं। थोड़ी देर बाद वे बच्चे की छोटी-छोटी कथरियाँ धूप में डालने गयीं और थक कर बैठ गयीं। मैं उन्हें पंखा झलने लगा। कथरियाँ पलटने का समय हुआ जानकर मैं उन्हें पलटने चला गया और सूखी हुई कथरियाँ लाकर माँ के पास लाकर रखने लगा। माँ प्रसन्न होकर बोली, "बहुत अच्छा, बहुत अच्छा!"

माँ से सुना है, "केदार अब महाराज हो गया है, अब धरती पर पाँव नहीं रखता। पहले स्कूल में शिक्षक था, अब माँ-बेटा कुर्सी पर बैठकर बातें करते हैं। थोड़ा अहंकार हो गया है। लड़के सब कुछ त्यागकर ठाकुर का नाम लेकर निकले हैं, थोड़ा अच्छा खाना-पीना न मिले, तो क्या लेकर रहेंगे?"

ठाकुर के भक्तों में मास्टर महाशय इधर-उधर (संसार एवं परमार्थ) दोनों तरफ से उन्नत हैं। ऐसा और कोई नहीं।"

१३. कुसुम कुमारी देवी

तेल, घी, आटा आदि रसोई का सामान शायद भण्डार में नहीं है – यह बात माँ को सूचित करते ही वे कहतीं, "ठीक से देखो न, है।" लौटकर देखा, तो उस दिन के लिये आवश्यक चीजें मिल गयीं। चावल सुबह दस सेर और रात को भी दस सेर पकता। किसी दिन नापने जाती, तो शायद देखती कि उस दिन के लिये पूरा चावल नहीं हैं। अगले दिन (कूटकर) तैयार होगा। माँ बोलीं, "एक बार और नापकर देखो तो!" दुबारा नाप कर देखा तो चावल पूरा निकला। माँ ने कहा, "पहले तुमसे नापने में गलती हुई थी।"

१४. कृष्णधन चटर्जी

जयरामबाटी में कई लोगों की दीक्षा के बाद अन्त में मेरी दीक्षा हुई। माँ के चरणों की पूजा करने गया, तो देखा – पुष्पपात्र में एक भी फूल नहीं है। माँ बोलीं, "चिन्ता क्यों करते हो बेटा, क्या गंगाजल से गंगापूजा नहीं होती? मैंने निर्माल्य से फूल लेकर उनके चरणों में देकर प्रणाम किया।

१५. कृष्णमयी देवी (रामलाल दादा की पुत्री)

कामारपुकुर की एक स्त्री ने पूछा, "परमहंसदेव कब सिद्ध हुए?" माँ ने कहा, "उन्हें तो सदा से सिद्ध देखती आयी हूँ, कभी असिद्ध देखा ही नहीं।"

१६. गौरीकान्त विश्वास

जयरामबाटी से विदा लूँगा। चारु दादा और यतीन दादा ने माँ से संन्यास देने की प्रार्थना की। उनके हठ करने पर अन्त में माँ बोली, "ठीक है, जाओ हो जायगा।" सुनकर मैं बोला, "माँ, मुझे और कितने दिन संसार में रहना होगा?" इस पर माँ ने "ब-च-प-ना" – ये शब्द इस प्रकार कहे कि मेरा आगे कुछ कहने का साहस ही नहीं हुआ।

१७. नन्दरानी दत्त

एक दिन जगदम्बा आश्रम में शाम के चार बजे माँ अपना पाँव झाड़ रही थीं। देखकर मैंने पूछा, "माँ, क्या आपके पैर में काँटा चुभा है?" माँ बोलीं, "नहीं बेटी, काटाँ नहीं है।" – "तो फिर पाँव क्यों झाड़ रही थीं?" संध्या के बाद दुबारा यही बात पूछने पर माँ ने कहा, "एक योगिनी दो-तीन दिन से लगातार मुझे तंग कर रही है। मेरे "जा भाग, जा भाग" कहते ही वह चली गयी। उसका कर्मफल समाप्त हुआ। मुझे निर्जन में पाकर उसने पकड़ा था, जगदम्बा की इच्छा से, जो होना था, सो हो गया।"

माँ कोयालपाड़ा में थीं। दोपहर के दो बजे के बाद पश्चिम दिशा में एक प्रचण्ड बादल उठा एवं वृष्टि और ओले पड़ने लगे। पानी रुकने पर एक किसान खेत को जा रहा था। माँ ने पूछा, "बेटा, कितना पानी बरसा?" कहाँ माँ, पानी कहाँ? – उसने कहा। माँ ने कहा, "मनुष्य को जीतना भी दो, उसका अभाव नहीं पूरा किया जा सकता।"

एक दिन शाम को मैं माँ से बोली, 'माँ, आपके पाँवों के नाखून खूब बढ़ गये हैं, काट देती हूँ।" मैंने उन्हें काटकर कागज में लपेटकर रख लिया। माँ ने कहा,"उसे क्या करेगी बेटी, फेंक दे।" मैंने फेंका नहीं, रख लिया। "मेरा तो अब

वह रहा नहीं।'' – कहकर माँ मन्द-मन्द हँसने लगीं।

१८. डॉ. नीलम बिहारी सरकार

माँ को मलेरिया का तेज बुखार था। शाम को माँ को दवा खिलाकर मैं खड़ा था। माँ बोलीं, ''बेटा, दोनों पाँवों में बड़ी पीड़ा हो रही है। एक बार हाथ फेर दे तो !'' कुछ देर बाद बोलीं, ''सिर बहुत दर्द कर रहा है।'' सिरहाने जाकर उनके सिर की ओर हाथ बढ़ाते ही बोलीं, ''यह क्या बेटा ! मेरे पैरों की धूल मेरे ही सिर में दोगे?'' मैंने चौंककर उनके चरणों से लगा हुआ हाथ अपने सिर से लगा लिया।

१९. नारायण रुद्र

मैं, अतुलकृष्ण दास और शशिभूषण दास जयरामबाटी से माँ का दर्शन करके पैदल तारकेश्वर जा रहे थे। जहानाबाद के होटल में खाना खाकर हम पुन: आगे बढ़े। दामोदर पार करके हमने वन में प्रवेश किया। रात हो गयी, रास्ता नहीं सुझ रहा था। सहसा देखा, एक रोशनी हमारे आगे-आगे चल रही है। लगा कि कोई उसे लिये हुए चल रहा है, पर हम लोग उसे देख नहीं सके। करीब एक मील चलने के बाद जब हम लोग वन प्रदेश से बाहर आ गये और रास्ता दिखने लगा, तो हम पहचान गये कि यही तारकेश्वर का मार्ग है, तभी सहसा देखा गया कि वह रोशनी जा चुकी है।

२०. निशिकान्त मजूमदार

दुर्गापूजा के दिन मैं मठ गया। उत्तर की ओर के बगीचे में योगीन-माँ तथा गोलाप-माँ के बीच में माँ बैठी थीं। उनके आसपास बहुत-सी महिलाएँ थीं। माँ बोलीं, ''बेटा, पूजा देखने आये हो? देखो, कैसे जया-विजया के साथ बैठी हूँ।''

२१. प्रफुल्लमुखी बसु

एक विदेशी भक्तमहिला से बात करते समय माँ धीरे-धीरे हँस रही थीं और सिर हिला रही थीं। वह हँसी जिसने एक बार भी देखी है, वह जीवन में उसे नहीं भूल सकेगा। उस महिला के चले जाने पर माँ बोली, ''मेरे साथ बातें करने के लिये इसने 'बालशिक्षा' खरीदकर बँगला सीखा है। मैं प्रात: चार बजे उठती हूँ, यह सुनकर वह भी चार बजे उठती है।''

२२. डॉ. प्रभाकर मुखर्जी

माँ ने ठाकुर के लिये माला गूथने को कहा था। मैं सोच रहा था कि कृष्ण, काली या शिव का भाव लेकर तदनुसार माला बनाऊँगा। सहसा मन में आया – ठाकुर तो सब कुछ हैं, अत: हर तरह के फूल, तुलसी, बेलपत्र आदि सब लेकर माला बनाना ठीक रहेगा। माँ स्नेहपूर्ण मधुर हास्य के साथ नये मकान के कमरे के बरामदे में थोड़ी दूरी पर बैठी थीं।

जयरामबाटी में माँ ने मुझसे एक बीमार पड़ोसी की चिकित्सा करने को कहा। अनुमति माँगते ही वे बोलीं, ''जाओ, सफल होओ।'' रोगी आसानी से स्वस्थ हो गया।

२३. विभूतिभूषण घोष

ठाकुर के विषय में बोलते हुए माँ ने कहा था, ''यदि ये लोग घुमड़ी (साधना के अंगरूप में स्त्री) को नहीं लेते, तो चैतन्य अवतार से ही हो जाता, ठाकुर को आना नहीं पड़ता।'' अपने बारे में बोलीं, ''उन दिनों हम उन्हें ठाकुर नहीं कहती थीं। लक्ष्मी और मैंने उनसे मंत्र लिया था।''

माँ कलकत्ता से जयरामबाटी आयी हुई थीं। पालकी में बैठी थीं, ठाकुर का बक्सा भी पालकी में है। मैं ठाकुर का बक्सा उतार रहा था, थोड़ा तिरछा उतारने में मुश्किल होता देखकर माँ हँसती हुई बोलीं, ''उसमें विश्वम्भर हैं न !''

शाम को मैं जयरामबाटी से रवाना हो रहा था। छोटी मामी बोली, ''विभूति, तुम अकेले जाओगे? माँ ने कहा, ''अकेले क्यों जायेगा? साथ में ठाकुर जायेंगे।''

मैं मुजफ्फरपुर से अपनी पत्नी अमियबाला को लेकर काशी पहुँचा। उस समय स्नान करने जा रही थीं, हमें देख कर उन्होंने टब का पानी से अपने सिर पर छींटा दिया। फिर कमरे में आकर मेरी स्त्री को बुलाकर उसकी ठुड्डी पकड़कर मुख उठाकर देखा। बोलीं, ''वाह ! मेरी बहू तो अच्छी है !''

उसकी मृत्यु की बात सुनकर माँ ने रोते-रोते योगीन-माँ से कहा था, ''जिस प्रकार बिच्छू के काटने से पीड़ा होती है, बहू की मृत्यु से मुझे भी वैसी ही पीड़ा हो रही है।' ठाकुर की ओर देखती हुई दोनों हाथ जोड़कर माँ ने कहा, ''ठाकुर, ऐसा करो कि बहू को फिर जन्म न लेना पड़े, उसे तुम्हारे श्री चरणों में स्थान मिले।'' बरामदे में आकर बोलीं, ''जिससे स्नेह करूँगी, उसका यह लोक तो देखूँगी ही, उसका परलोक भी जब तक नहीं देख लेती, तब तक मुझे चैन नहीं आता। विभूति, प्रेम ही सब कुछ है।''

बाबूराम महाराज ने पत्र लिखकर माँ को सूचित किया है कि काली महाराज (अभेदानन्दजी) ने अमेरिका से मठ में पचास रुपये भेजे थे। माँ नये मकान में बैठी थीं। पत्र पढ़कर सुनाते ही वे बोलीं, ''काली ने अपना ही भला किया है।''

एक दिन माँ ने कहा, ''मेरा शरत् तो है ही, राधू के लिये चिन्ता कैसी? शरत् सबका पालन करेगा – मेरा शरत् विष्णु के अंश से जन्मा है।'' (कृष्णलाल महाराज से) ''मैं किसी का दोष नहीं देख पाती। गोलाप को दिखाकर ठाकुर ने एक दिन मुझसे पूछा था, ''यह स्त्री कैसी है जी? सब लोग कितना कुछ कहते हैं, लज्जा आदि नहीं है ! मैं बोली, 'मैं तो कोई दोष नहीं देखती।' देख, मैंने संयोग से ठीक ही तो कहा था। अहा, देखो न, इतने दिन कैसे निभा दिया।''

माँ के मुख से सुना – युगाद्या का पुरोहित 'अब तुम्हारी सेवा नहीं कर सकता' कहते हुए गाँव छोड़कर भाग रहा था। रास्ते में माँ ने पुरोहित को दर्शन देकर कहा, ''जिनके भय से तुम भाग रहे हो, मैं वही देवी हूँ।'' ❖ **(क्रमशः)** ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२६०. कबीर गर्व न कीजिये, सबहिं दीजिये मान

श्रीकृष्ण की आठ पटरानियाँ थीं – रुक्मिणी, जाम्बवती, सत्यभामा, कालिन्दी, मित्रविन्दा, नग्नजिती, भद्रा और लक्ष्मणा। इनमें से जाम्बवती ऋक्षराज जाम्बवान की पुत्री थी। उसके साथ जब श्रीकृष्ण का विवाह हुआ, तो नारदमुनि भी उपस्थित थे। नारदमुनि गायन-वादन में निपुण थे, अत: श्रीकृष्ण ने उनसे वीणा बजाकर अतिथियों को मनोरंजन करने का अनुरोध किया। नारदमुनि ने धीमे स्वर में पूछा, ''रीछों के सामने वीणा बजाने को कहकर कहीं आप मेरा अपमान तो नहीं करना चाहते? यदि यही आपका उद्देश्य हो, तो आपने कैसे सोच लिया कि मैं आपका अनुरोध मान लूँगा?'' श्रीकृष्ण जान गये कि देवर्षि को अहंकार हो गया है, इसीलिये ये मेरे ससुर तथा उनके रीछ परिवार के सामने वीणा-वादन में हीनता मान रहे हैं। जाम्बवती भी वीणा-वादन में प्रवीण थी, अत: श्रीकृष्ण मुनि से बोले, ''यदि आप अपनी वीणा दें, तो जाम्बवती वीणा बजायेगी।'' मुनि ने अपनी वीणा जाबम्वती के हाथों में दे दिया। श्रीकृष्ण ने लोगों से कहा, ''आप सब अपना स्थान ग्रहण करें। अब जाम्बवती गीत गाएँगी।''

जाम्बवती के सुरीले गीत सुनकर सारे अतिथि मंत्रमुग्ध हो गए। नारदमुनि ने सोचा नहीं था कि जाम्बवती इतना सुन्दर गाती होगी। विवाह एक गुफा में होने से जाम्बवती एक शिला पर बैठकर गा रही थी। गीत समाप्त होने पर जब वह उठने लगी, तो वीणा का तूम्बा शिला के बीच में फँस गया। उसने वीणा को निकालने का प्रयास किया, पर निकाल नहीं सकी। नारद को चिन्ता हुई, अत: उन्होंने भी उसे निकालने का काफी प्रयत्न किया, पर वे भी सफल न हुए। श्रीकृष्ण बोले, ''मुनिवर, वीणा-वादन के साथ गीत गायेंगे, तो तुम्बा बाहर निकल आएगा। नारदमुनि ने कई राग-रागिनियाँ गायी, मगर तूम्बा फँसा ही रहा। अब श्रीकृष्ण जाम्बवती से बोले, ''तुम्हारे ही बजाने से वीणा शिला में फँस गई है। तुम यदि इसे फिर बजाओ, तो शायद निकल आये। जाम्बवती ने गाने के लिए मुँह खोला और ज्योंही उँगलियों से वीणा के तारों का स्पर्श किया, शिला में फँसा हुआ तुम्बा तुरन्त निकल आया। नारदमुनि ने श्रीकृष्ण के पास जाकर कहा, ''देवेश्वर, तुम्हारा नटखटपन अभी भी नहीं गया है। मैं जान गया कि मेरी फजीहत कराने के लिए ही तुमने यह चमत्कार दिखाया है।'' श्रीकृष्ण बोले, ''मुनिश्रेष्ठ, तुम्हें अपने गायन-वादन का अहंकार हो गया था, इसीलिए तुमने मेरे अनुरोध को ठुकरा दिया था। अब तुम्हें यह शिक्षा मिल गयी है कि अहंकार से व्यक्ति हार जाता है, जबकि निरहंकारी व्यक्ति बेजान पत्थर को भी वशीभूत कर लेता है।

२६१. आखिर यह तन खाक मिलेगा

शेख वाजिद अली बुखारा के एक बड़े व्यापारी थे। एक दिन वे ऊँटों के साथ व्यापार के लिये रवाना हुए। शेख आगे-आगे जा रहे थे और ऊँटों का काफिला पीछे-पीछे आ रहा था। कुछ दूर जाने पर एक ऊँट एक सँकरी गली में फँसकर गिर पड़ा। ऊँट दुर्बल था, अत: पीठ पर रखा भारी बोझ सहन न कर सका। सईसों ने उसे उठाना चाहा, पर वह मर चुका था। शेख ने जब पीछे मुड़कर देखा, तो उसे काफिला रुका हुआ दिखाई दिया। कारण पूछने पर सईसों ने रास्ते में एक ऊँट के मरने की बात बताई। वे उसे देखने गये। उन्होंने सेवकों से पूछा, ''इसका मुँह, पैर, पूँछ आदि सब तो ठीक-ठाक दिखाई दे रहा है, फिर यह उठ क्यों नहीं रहा है?'' सेवक बोले, ''हुजूर, मरे हुए प्राणी के सब अंग ठीक ही दिखाई देते हैं। कुछ दिनों बाद ये गल जायँगे और इसके शरीर से सड़ाध आने लगेगी। गिद्ध आदि उसके गले हुए अंगों को नोचने लगेंगे।'' ''तब तो आगे ऐसे ही सँकरे रास्ते आने पर दूसरे ऊँट भी मर सकते हैं?'' पूछे जाने पर सेवकों ने उत्तर दिया, ''हाँ हुजूर, उनकी भी ऐसी ही हालत होगी। इस संसार में जो भी पैदा होता है, उसे कभी भी मौत आ सकती है।'' शेख कुछ देर सोचते रहे। फिर उन्होंने सेवकों से कहा, ''इस ऊँट को दूर फेंककर आप लोग आगे बढ़ें। मेरे लिये दो हण्डियाँ और थोड़ा अनाज रख दो। मैं बाद में आपसे मिलूँगा।''

काफिला उन्हें छोड़ आगे बढ़ गया। शेख ने एक हण्डी में खाना पकाया। भोजन के बाद बचे भोजन को दूसरी हण्डी में रखकर उसे एक ओर रख दिया और सो गये। सहसा एक कुत्ता आया और उसने हण्डी में सिर डाला। पर हण्डी छोटी होने से उसका मुँह फँस गया। वह सिर निकालने की चेष्टा करने लगा। इससे हण्डी सरकने लगी। आवाज से शेख की नींद खुल गई। देखा – कुत्ते का सिर हण्डी में फँसा हुआ है। इतने में एक पत्थर के टकराने से हण्डी फूट गई। कुत्ता तुरन्त भाग गया। हण्डी को फूटी देख शेख सोचने लगे कि जब मनुष्य को एक-न-एक दिन इस संसार से जाना ही है, तो यह हण्डी कब तक टिकी रहती और मेरा साथ देती। जब हर देह की दुर्गति होने वाली है, तो क्यों मुझे इस नश्वर देह से मोह करना चाहिए। उन्हें इस संसार से विरक्ति हो गई और तब से वे एक फकीर का ही जीवन बिताने लगे। ❑
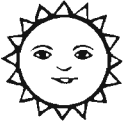
रावण : एक दिग्भ्रान्त व्यक्तित्व
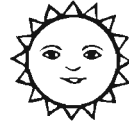
डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा

राम और रावण जीवन के दो विपरीत ध्रुवों का प्रतीक हैं। दो भिन्न जीवन-शैलियों के प्रतिनिधि हैं। वे केवल ऐतिहासिक चरित्र ही नहीं हैं, साहित्य में नायक और प्रतिनायक ही नहीं हैं, अपितु दो जीवन मूल्य भी हैं। राम श्रेय का जीवन-मूल्य हैं और रावण प्रेय का। राम और रावण दोनों का ही व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली है, ओजस्वी है; तभी तो उनमें टकराव है अन्यथा दोनों में से एक ने निश्चय ही स्वेच्छा से पराजय स्वीकार कर ली होती। वस्तुत: अन्तर है तो दोनों के शील में; राम का शील लोकमांगल्य और लोकहित में पर्यवसित होता है और रावण का स्वार्थ और संसार के उत्पीड़न में।

रावण पुलस्त्य कुल में जन्मा था, उसकी शिराओं में ऋषिरक्त था। वह भगवान शिव का अनुरागी था और उसने कठोर तप कर ब्रह्मा से अनेक वरदान भी प्राप्त किये थे। रावण की विद्वत्ता के अनेक प्रमाण ऐतिहासिक परम्पराओं और लोक-मान्यताओं में प्राप्त होते हैं। भारत की जातीय-स्मृति में रावण एक विद्वान किन्तु दिशाभ्रष्ट व्यक्ति के रूप में सुरक्षित है। रावण ने वेदों पर भाष्य भी लिखा था, जो बहुत अधिक समय बीत जाने के कारण अब उपलब्ध नहीं होता। व्याकरण और ज्योतिष पर भी रावण ने ग्रन्थों की रचना की थी। उसके पाण्डित्य का एक सुन्दर प्रमाण हमें 'शिव-ताण्डव स्तोत्र' में मिलता है, जो भाव और भाषा की दृष्टि से अत्यन्त रमणीय रचना है। इस वैदुष्य के अतिरिक्त उसके शौर्य और पराक्रम की तो मानो सीमा ही नहीं थी। उसकी धाक पाताल से स्वर्गलोक तक थी, देवगण उसके यहाँ बन्दी थे। प्रभुत्व की तो यह स्थिति थी कि मेघनाद के जन्म के समय उसने स्वयं ग्रहों की स्थिति निश्चित की थी। ग्रहों के अभिमानी देवताओं को अभीष्ट राशियों में ही स्थित रहने का आदेश दिया था। उधर सबकी आँख बचा कर शनिदेव ने अपने शरीर के मैल की एक गोली बना कर मेघनाद के आयुष्य-स्थान में फेंक दी और उसी 'गुलिका-योग' में लक्ष्मण ने मेघनाद का वध कर दिया, अन्यथा रावण ने जो ग्रह-स्थिति बनाई थी, उसके अनुसार तो मेघनाद की मृत्यु का प्रश्न ही नहीं था।

विचारणीय यह है कि ऐसे विद्वान, पराक्रमी और शिवभक्त रावण की यह दुर्दशा क्यों हुई? क्यों वह आज भी अग्नि में जलता है? और इतनी बार अग्निदग्ध होने पर भी उसका कलंक अभी तक भस्मशेष क्यों नहीं हुआ ! कारण यही है कि रावण ने विद्वान होने पर भी अपने जीवन की दिशा सही नहीं चुनी। रावण का सबसे बड़ा दुर्गुण था उसका अहंकार। अपनी यशोलिप्सा और विलासप्रियता के कारण उसने अपनी शक्तियों का दुरुपयोग किया। अविवेकरूप अहंकार ने रावण से उसकी दृष्टि छीन ली, उसे मदान्ध बना दिया।

भारतीय दर्शन में बहुलता से प्रयुक्त एक शब्द है – मूढ ! इस 'मूढ' शब्द का अर्थ 'मूर्ख' नहीं है, विद्वान भी मूढ हो सकता है। मूढ का अर्थ है 'मोहग्रस्त', अविवेकी, जिसे मदान्धता में उचित-अनुचित, धर्म-अधर्म का ज्ञान न रहे, करणीय और अकरणीय की समझ न रहे। रावण भी ऐसा ही एक 'विद्वान मूढ' था, जिसने अहम्मन्यता और दर्प का विष पीकर अपना सर्वनाश कर लिया था। सृष्टि का यह नियम है कि जो कुछ समष्टि के हित के विपरीत होता है, उसकी नियति अशुभ और आत्मघाती ही होती है। यही नियति रावण की भी रही, क्योंकि उसने अपनी 'विभूति' से कभी संसार के कल्याण की चेष्टा नहीं की। रावण को तो अपनी भक्ति का भी अहंकार था; वह भक्ति जिसकी प्रथम अपेक्षा दैन्य और समर्पण है। उसने भगवान शिव को उमा सहित उठाकर लंका ले जाने की चेष्टा की। शिव निश्चय ही चले जाते यदि वह प्रेम से ले जाता, किन्तु उसका उद्देश्य तो अपने बल और ऐश्वर्य का प्रदर्शन था। ऐसे में भला शिव कैसे जाते? शिव तो कल्याणस्वरूप हैं, और दम्भी का कभी कल्याण नहीं होता !

रावण के विषय में कुछ ऐसे भी पौराणिक सन्दर्भ मिलते हैं, जो रावण के लिये मन में सहानुभूति उत्पन्न करते हैं। सन्दर्भ है कि एक बार महर्षि दुर्वासा श्रीविष्णु से मिलने वैकुण्ठ लोक पहुँचे। श्रीविष्णु के द्वारपाल जय और विजय ने उन्हें कुछ देर प्रतीक्षा करने के लिये कहा, ताकि वे भीतर जाकर नारायण को उनके आगमन की सूचना दे सकें। महर्षि दुर्वासा इस बात पर क्रुद्ध हो उठे, और तत्क्षण दोनों को तीन जन्मों तक असुर योनि में उत्पन्न होने का शाप दिया। निरपराध जय और विजय तीन जन्मों तक असुर योनि का अभिशाप भुगतते रहे। शाप की इस अवधि में ही वे रावण और कुम्भकर्ण के रूप में उत्पन्न हुए और रामावतारधारी श्रीविष्णु के हाथों मृत्यु प्राप्त कर वैकुण्ठगामी हुए।

सत्यता यह है कि बुरे से बुरे व्यक्ति के भीतर भी अच्छाई रहती है, किन्तु दुष्प्रवृत्तियों के कारण सद्विचारों की चिनगारी जलते ही बुझ जाती है। रावण विद्वान और पण्डित था, अत: वह अपनी नियति को जानता था, किन्तु अपने तामसिक

(शेष अगले पृष्ठ पर नीचे)

ईश्वर-दर्शन का उपाय : जप-ध्यान

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(रामकृष्ण संघ के दशम अध्यक्ष स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज ने १५ अगस्त १९७५ को गौहाटी के रामकृष्ण मिशन आश्रम में जो अति मूल्यवान व्याख्यान दिया था, वह बँगला की उद्बोधन पत्रिका के १३९४ बंगाब्द के कार्तिक तथा अग्रहायण अंकों में 'ईश्वर-दर्शनेर उपाय' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ था। बाद में वह उद्बोधन कार्यालय द्वारा एक पुस्तिका के रूप में भी प्रकाशित हुआ था। यहाँ उसी का स्वामी विदेहात्मानन्दजी द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

भगवान शंकराचार्य ने वेदान्त-सूत्रों पर अपना भाष्य लिखते समय प्रारम्भ में ही कुछ ऐसी बातें कही हैं, जिन्हें न तो आज तक कोई बदल सका है और न जिनका कोई खण्डन ही कर सका है। वे कहते हैं कि आत्मा चैतन्य तथा अनात्मा जड़ है; और ये दोनों परस्पर विरुद्ध स्वभाव के हैं। एक के साथ दूसरे का कोई मेल नहीं है। किस तरह के विरुद्ध स्वभाव वाले हैं? '**तम:प्रकाशवत्**' – प्रकाश और अन्धकार, दिन और रात के समान परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले हैं। अत: हमारे लिये दोनों को कैसे भी मिश्रित कर पाना सम्भव नहीं है। इसके बावजूद महामाया का ऐसा खेल है कि इन विरुद्ध स्वभाव वाले दोनों वस्तुओं को हम मिला डालते हैं। किस प्रकार मिला डालते हैं? 'मैं इस कमरे में हूँ', 'मैं क्षत्रिय हूँ', मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं गोरा हूँ', 'मैं काला हूँ', 'मैं दुखी हूँ', 'मैं सुखी हूँ', 'मेरी पत्नी', 'मेरा पुत्र', 'मेरे पति', 'मेरा मकान', 'मेरी जमींदारी', 'मेरा व्यापार' – यही सब कहते रहते हैं।

मैंने पहले ही कहा था – 'मैं इस कमरे में हूँ' – यह भला कैसे हो सकता है? आत्मा सर्वव्यापी है, अत: 'मैं इस कमरे में हूँ', 'यहाँ बैठा हूँ' – यह भला कैसे हो सकता है? देह के साथ तादात्म्य-बुद्धि करके मैं कहता हूँ कि मैं यहाँ हूँ। देह जड़ है और मैं चैतन्य हूँ। मैं इन दोनों को मिला डालता हूँ। ठीक इसी प्रकार मैं कहता हूँ कि 'मैं क्षत्रिय हूँ', मैं ब्राह्मण हूँ'। इसके बाद मैं मन के गुणों को आत्मा में आरोपित करता हूँ; और 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुखी हूँ', आदि कहता हूँ। फिर बाहर की चीजों को अपने ऊपर आरोपित करके हम – 'मेरी पत्नी', 'मेरे पति', 'मेरा पुत्र' आदि कहते हैं। ये दोनों ही विरुद्ध स्वभाव वाले हैं, तो भी ये दोनों मिल जा रहे हैं। ऐसा क्यों होता है?

ऐसा अज्ञान के कारण होता है। इस अज्ञान के कारण ही हम मिला डालते हैं। यह अज्ञान अनादि काल से चला आ रहा है। इसी को माया कहते हैं। इसका दूसरा नाम है चिज्जड़-ग्रन्थि। चैतन्य और जड़ की यह ग्रन्थि ही हमारे बन्धन का कारण है। यदि हम इन दोनों को पृथक कर सकें – हम चैतन्य हैं – हमारे साथ जड़ का कोई सम्पर्क नहीं है

पिछले पृष्ठ का शेषांश

स्वभाव के कारण कुछ कर नहीं पा रहा था। जब शूर्पणखा ने उसके सामने अपने अपमान और खरदूषण के वध का प्रसंग सुनाया, तो वह सोच में पड़ गया। उसने विचार किया कि खर और दूषण बल में मेरे ही समान बलवान हैं, उन्हें भगवान के अतिरिक्त और कोई नहीं मार सकता। यदि पृथ्वी का भार हरने के लिये श्रीविष्णु ने अवतार ग्रहण किया है, तो मैं हठपूर्वक उनसे वैर करूँगा और उनके हाथों मुत्युलाभ कर मोक्ष प्राप्त करूँगा, क्योंकि मेरे इस तामस शरीर से तो किसी प्रकार की साधना हो नहीं सकेगी।

सुर नर असुर नाग खग मांही ।
मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं ।।
खरदूषन मोहि सम बलवंता ।
तिन्हहिं को मारहि बिनु भगवंता ।।
सुररंजन भंजन महि भारा ।
जौं भगवंत लीन्ह अवतारा ।।
तो मैं जाइ बैरु हठि करऊँ ।
प्रभुसर प्रान तजें भव तरऊँ ।।
होइहिं भजनु न तामस देहा ।
मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा ।।

(अरण्यकाण्ड, रामचरितमानस)

रावण उस चेतना का प्रतीक है जो स्वभाव से ऊर्ध्वगामी होने पर भी शरीर की स्थूल आसक्तियों के पिंजरे में बन्दी है, धर्म का ज्ञान होने पर भी धर्म के मार्ग पर चल नहीं सकती। यही विवशता दुर्योधन की भी थी –

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः ।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।।

रावण के चरित्र से हमें यह उपदेश मिलता है कि अधर्म और अन्याय के मार्ग पर चलकर किसी का कल्याण नहीं हो सकता। रावण ने अपनी शक्तियों और सिद्धियों का उपयोग सत्कार्यों में नहीं किया, इसीलिये इतना विद्वान और पराक्रमी होकर भी वह आज तक अवमानना की अग्नि में जल रहा है।

❑❑❑

– ऐसा बोध यदि हमें हो सके, तो इसी से हमारी मुक्ति हो जायगी। जिन लोगों ने भगवान का दर्शन किया है, वे ही इस चिज्जड़-ग्रन्थि को काट सके हैं। उनका जड़ के साथ कोई सम्पर्क नहीं रह जाता। उन्हीं को किसी तरह का कोई संशय नहीं रह जाता। उनके सारे कर्मफलों का नाश जो जाता है और वे मुक्त हो जाते हैं।

उपनिषद् के ऋषि कहते हैं –

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।*

(श्वेताश्वतरोपनिषद्, ३/८)

– ''मैंने उन महान पुरुष देखा है, जो आदित्य के समान तेजस्वी हैं और माया रूपी अन्धकार के परे हैं। उन्हें जाने बिना इस संसार या मृत्यु के हाथ से छुटकारा नहीं मिल सकता।'' तो फिर भगवान की प्राप्ति ही वह एकमात्र उपाय है, जिसके द्वारा हम लोग इन दुःख-कष्टों से मुक्ति पा सकते हैं या अनादि अज्ञान को नष्ट कर सकते हैं। इस अज्ञान के द्वारा ही हमारा ज्ञान ढका हुआ है, इसीलिये हम लोग चैतन्य को देख नहीं पा रहे हैं। यह अज्ञान क्या है? 'मैं'-'मेरा' – यह भ्रम। ठाकुर कहा करते थे – यह 'मैं'-'मेरा' का भाव अज्ञान का और 'तू'-'तेरा' का भाव ही ज्ञान का लक्षण है। 'मैं'-'मेरा' से स्वार्थपरता आती है। अपने इस छोटे-से अहं को सन्तुष्ट करना, उसके भोग के लिये सभी चीजों की व्यवस्था करना – यही स्वार्थपरता है। निःस्वार्थता भगवान की ओर जाने का मार्ग है। यदि हम पूर्णतः निःस्वार्थ हो सके, तो फिर भगवान का दर्शन मिल जायगा। निःस्वार्थ होने पर हम प्रेमस्वरूप हो जायेंगे। भगवान स्वयं ही प्रेमस्वरूप हैं। अतः इससे हमें भगवान का दर्शन हो जायेगा।

अब इस अज्ञान अर्थात् 'मैं'-'मेरा' – इस बोध को नष्ट करने का क्या उपाय है? हम लोग व्रत पालन करते हैं, तीर्थ-भ्रमण करते हैं, दान करते हैं। दान करना, तीर्थ में जाना, मन्दिर में दर्शन कर आना, प्रणामी देना या व्रत पालन करना – यह सब सामान्य कर्म हैं। आचार्य शंकर कह गये हैं कि इन सब से कुछ भी नहीं होगा। जब तक ज्ञान नहीं होता, तब तक मुक्ति नहीं होगी। फिर आजकल जैसा होता है – धर्म का अर्थ लोकाचार हो गया है, वे लोकाचार, जिन्हें पण्डित लोग अपने समर्थन में दे गये हैं। यही है हम लोगों का धर्म। इस लोकाचार के अतिरिक्त हम अन्य कुछ मानना ही नहीं चाहते। और जो लोग इन लोकाचारों को नहीं मानते, उन्हें हम अधार्मिक कहते हैं। हम लोगों की बुद्धि इतनी संकीर्ण होती जा रही है, हम लोग धर्म के नाम पर लोकाचार को ही पकड़े रहते हैं। तथापि हम लोग जिन्हें अधार्मिक कहते हैं, सम्भव है कि उन्हें सत्य की ठीक-ठीक उपलब्धि हो गयी हो और वे सच्चे धर्मपथ पर चल रहे हों। हम लोगों का भाव यह है कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, वही धर्म है, इसके अतिरिक्त कुछ धर्म हो ही नहीं सकता।

जब हमारी ऐसी बुद्धि हो जाती है, तब भगवान आते हैं। और धर्म वस्तुतः क्या है, यह समझा देते हैं। इस युग में भी ठीक यही हुआ। ठाकुर ने आकर समझा दिया कि धर्म क्या है – जीवन का उद्देश्य है भगवान का दर्शन और वही धर्म है। स्वामीजी भी कह गये हैं – 'Religion is realisation' – अनुभूति ही धर्म है। फिर उन्होंने यह भी कहा कि धर्म वस्तुतः क्या है? बाह्य प्रकृति और आन्तरिक प्रकृति का दमन करके सुप्त ब्रह्म को अभिव्यक्त करना ही धर्म है। यही जीवन का उद्देश्य है। इसे हम किस प्रकार सम्पन्न कर सकते हैं? ज्ञान, कर्म, भक्ति तथा राजयोग – इनमें से किसी भी एक योग के द्वारा। इनमें से किसी एक के द्वारा, या एक के साथ दूसरे को मिलाकर अथवा सभी को मिलाकर हम ब्रह्म को – आत्मा को अभिव्यक्त कर सकते हैं। और ज्योंही हमें आत्मदर्शन हो जायगा, हम त्योंही मुक्त हो जायेंगे। यही धर्म है। और मन्दिर, शास्त्र, पूजा-पाठ आदि बाकी सब कुछ गौण बातें हैं। परन्तु हम लोग गौण को ही मुख्य बना डालते हैं और मुख्य वस्तु को बिलकुल ही छोड़ देते हैं।

त्याग ही धर्म है : धर्म का प्रथम प्रमाण त्याग है। त्याग के बिना कोई धर्म नहीं हो सकता। यदि मुझमें वैराग्य न हो, यदि मुझे संसार के सारे भोग्य विषयों से वैराग्य न हुआ हो, ये चीजें मुझे शान्ति नहीं दे सकतीं – यह धारणा यदि सुदृढ़ न हुई हो, तो मैं धर्म-जीवन की ओर कभी उन्मुख नहीं होऊँगा। मैं इस दुनिया की सभी घटनाओं में मस्त रहूँगा। परन्तु चोट खाते-खाते जब मैं समझ लूँगा कि मेरी यह धारणा ठीक नहीं है, तब मैं खोज करने लगूँगा कि इसके अतिरिक्त दूसरी भी कोई वस्तु है या नहीं। इस प्रकार विचार करने पर हम देखते हैं कि संसार की सभी वस्तुएँ मृत्यु के वशीभूत हैं, एक-न-एक दिन उनका ध्वंस हो जायगा। विचार करके देखने पर – जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि – यही संसार का गुण समझ में आयेगा। बुद्धदेव ने ठीक ऐसा ही अनुभव किया था। भ्रमण के लिये बाहर निकलने पर उन्होंने देखा कि सभी मनुष्य जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि से पीड़ित हैं और यही संसार की गति है। इससे बाहर निकलने का कोई उपाय है या नहीं – यह जानने के लिये उन्होंने संसार का त्याग किया था। भगवान श्रीकृष्ण ने भी यही कहा है – **'जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषानुदर्शनम्'**। अतः संसार में रहकर तुम्हें शान्ति मिले, ऐसा हो ही नहीं सकता। संसार के जो झंझट हैं, वे ऐसे ही बने रहेंगे। यदि तुम शान्ति पाना चाहते हो, तो मेरे पास

आओ, मेरी आराधना करो, मेरी उपासना करो – यही गीता की सार बात है। ठीक इसी कारण हमें एक या अधिक योग को अपना कर आगे बढ़ना होगा।

चार योगों में से सर्वप्रथम मैं ज्ञानयोग के द्वारा विचार करके देखूँगा – मैं देह नहीं हूँ, बुद्धि नहीं हूँ, अहंकार नहीं हूँ, यह सब नहीं हूँ। इसी प्रकार विचार करते हुए मैं आत्मा को अलग करके आखिरकार आत्मा तक पहुँच जाऊँगा। और जब मैं उस विचार तथा ध्यान में प्रतिष्ठित हो जाऊँगा, तब मुझे आत्मज्ञान हो जायगा।

ठीक इसी प्रकार कर्मयोग के द्वारा यदि मैं अपने लिये कोई चिन्ता न करते हुए दूसरों के लिये कार्य किये जाऊँ, तो ऐसा करते-करते अपनी बात बिल्कुल ही भूल जाऊँगा, केवल दूसरों की ही बात याद करूँगा और अन्तत: पूरे जगत् के साथ एक हो जाऊँगा। तब 'मैं'-'मेरा' का बोध पूर्णत: लुप्त हो जायगा। और मुझे भगवान का दर्शन मिल जायगा।

भक्तिपथ में भगवान का चिन्तन करते-करते – मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ, सब भगवान के लिये कर रहा हूँ – इस प्रकार भगवान के चिन्तन में तन्मय होकर मैं स्वयं को भूल जाऊँगा। तब भगवान का दर्शन होगा।

फिर योग में भी ऐसा ही है। जब मैं सारे विचारों को छोड़कर केवल भगवान के चिन्तन में अपने देह-मन को स्थिर कर दूँगा, तब मेरे चित्त की सारी वृत्तियाँ नष्ट होकर केवल एक ही वृत्ति रह जायगी अर्थात् मन भगवच्चिन्तन में तल्लीन हो जायगा। तब मन निर्वात दीपशिखा के समान हो जायगा – जैसे वायुहीन स्थान में जलती हुई दीपशिखा जरा भी नहीं हिलती, स्थिर रहती है, मन वैसा ही हो जायगा। जब मन इसी प्रकार भगवान के चिन्तन में एकाग्र हो जायगा, तब भगवान का दर्शन होगा।

इस प्रकार किसी भी उपाय से यदि हम इस छोटे 'मैं' को भूल जायँ, और बड़े 'मैं' अर्थात् भगवान की ओर मन जाय और अन्तत: उन्हीं में तन्मय हो जाय, तो भगवान की प्राप्ति हो जायगी। हम लोगों में से अधिकांश लोग प्राय: भक्तिमार्ग ही अपनाते हैं। जिनमें वैराग्य अधिक है, वे ही ज्ञानमार्ग में जा सकते हैं। योग का अभ्यास बड़ा कठिन है, परन्तु भक्तिमार्ग सहज है। दुनिया में ऐसे लोगों की ही बहुतायत दीख पड़ती है, जिनमें संसार के प्रति आसक्ति भी है और भगवान के प्रति भक्ति-प्रेम भी है। इसीलिये श्रीरामकृष्ण ने अधिकांश लोगों के लिये उपाय बताते हुए कहा है – 'कलियुग के लिये नारदीय भक्ति है।' हम लोग भक्तिमार्ग को द्वैतबुद्धि से शुरू करते हैं। भगवान अलग हैं, मैं अलग हूँ और मुझे भगवान का दर्शन करना है – इसी प्रकार आरम्भ करते हैं। और अन्त में हम भगवान की कृपा से उनके अद्वैतरूप – निराकार रूप का दर्शन कर सकेंगे। जैसे ठाकुर ने प्रारम्भ में माँ-काली का दर्शन किया और उसके बाद माँ-काली की कृपा से निर्गुण ब्रह्म की उपलब्धि की। ठीक वैसे ही कोई द्वैतबुद्धि से आरम्भ करने पर भी अन्त में उसे भगवान का दर्शन हुआ, चाहे अपने इष्टदेवता का हुआ या किसी अन्य देवता का; और उसके बाद निर्गुण ब्रह्म की उपलब्धि करने में उसे अधिक समय नहीं लगा।

परन्तु प्रारम्भ में ही सगुण ब्रह्म या अपने इष्टदेवता की अनुभूति कर पाना बड़ा कठिन है। इसीलिये पहले बाह्य पूजा, उसके बाद जप, फिर ध्यान का अभ्यास किया जाता है। यह बाह्य पूजा सबसे निचली सीढ़ी है। बाह्य पूजा करते-करते मन जब तैयार हो जायगा, तब जप करना होगा। जप का अभ्यास करते-करते मन ध्यान के लिये तैयार हो जाता है। तब ध्यान किया जाता है। ध्यान ही सर्वश्रेष्ठ हैं।

जप-ध्यान : हम लोगों में से बहुत-से लोग, जो धर्मजीवन बिताते हैं, वे बाह्य पूजा पर अधिक जोर देते हैं, जप-ध्यान पर उतना जोर नहीं देते, बाह्य पूजा में ही सारा समय बिता देते हैं। मन्दिर में जाते हैं, उसमें अनेक देवता है, सबको थोड़ा-थोड़ा फूल आदि चढ़ाते हैं, जल आदि चढ़ाते हैं – इसी में सारा समय बीत जाता है। उसके बाद जप के लिये समय ही नहीं बचता। और ध्यान करना तो दूर की बात है। बहुत-से लोग कहते हैं – हम लोगों का तो मन ही स्थिर नहीं होता। मन भला कैसे स्थिर होगा? जप-ध्यान किये बिना मन स्थिर नहीं होता। बहुत-से लोग सोचते हैं कि दीक्षा लेने के बाद दो-एक दिनों के भीतर ही मन स्थिर हो जायगा। यह भी एक विचित्र बात है। श्रीमाँ ने कहा है, ''ऋषि-मुनि युगों तक तपस्या करके भी उन्हें प्राप्त नहीं कर पाये और तुम लोगों को एकदम से हो जायेगा? इसके बाद उन्होंने कहा, ''परन्तु इस बार ठाकुर ने सब सरल कर दिया है। अब थोड़ा-सा करने से ही हो जायगा।'' लेकिन वह थोड़ा-सा भी तो करना होगा। अब यदि हम वह थोड़ा-सा भी न करें, तो फिर कैसे होगा? परन्तु वह थोड़ा-सा भी तो करना होगा। वह थोड़ा-सा भी यदि हम न करें, तो फिर कैसे होगा? सामान्यत: हम देखते हैं कि जो लोग जप करते हैं, वे अपना अधिकांश समय बाह्य पूजा में बिताते हैं, वैसे मैं सबकी बात नहीं कर रहा हूँ; उसके बाद १०८ बार जप करके समाप्त कर देते हैं। उन्हें पता ही नहीं है कि जप १०८ से भी अधिक करने की जरूरत है। मानो इतना करने से ही सब कुछ हो जायगा ! जप जितना ही अधिक किया जायगा, उतनी ही तीव्रता से ईश्वर की ओर प्रगति होगी।

जप का क्या अर्थ है? ईश्वर के किसी विशेष रूप या किसी देवता के नाम का बारम्बार आवृत्ति को ही जप कहते हैं। हम जानते हैं कि प्रत्येक विचार का एक शाब्दिक रूप भी होता है। शब्द तथा उसके भाव को एक-दूसरे से अलग

नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार आध्यात्मिक जगत् में भी कुछ शब्द-प्रतीक कुछ भावों के साथ विशेष रूप से जुड़े हुए होते हैं। यथा 'ॐ' ईश्वर के निराकार भाव का प्रतीक है। इसी प्रकार परमात्मा की विभिन्न अभिव्यक्तियों के रूप में विभिन्न देवताओं के भी भिन्न-भिन्न बीजमंत्र हैं। इन मंत्रों के साथ उन देवताओं के नाम का जप करने पर हमारा मन उनमें एकाग्र हो जाता है।

इस कारण जप करना ही मुख्य बात है। जप के भीतर जो बीजमंत्र है, उसी में तुम्हारी सारी आध्यात्मिक शक्ति निहित है। जप किये बिना उस शक्ति का स्फुरण नहीं होगा। अत: केवल १०८ बार जप करने से भला कैसे प्रगति होगी? जप अधिक-से-अधिक संख्या में करना होगा। परन्तु अनेक लोगों को संसार के नाना कार्यों के चलते अधिक समय नहीं मिलता। उनके लिये कहा गया है कि तुम लोग सर्वदा मन-ही-मन जप करो। तुम लोग अपने काम-काज के दौरान मन-ही-मन जप करो।

श्रीभगवान अर्जुन से कहते हैं, '**तस्मात सर्वेषु कालेषु माम् अनुस्मर युध्य च**। (गीता ८/७) – सर्वदा मेरा स्मरण करो और युद्ध करो। ये दोनों एक साथ करने होंगे। स्मरण-मनन करते समय युद्ध बन्द हो जाय, ऐसा नहीं चलेगा। तुम्हीं पाण्डवों के प्रमुख आधार-स्तम्भ हो। तुम यदि दो मिनट चुप बैठो, तो युद्ध में न जाने क्या हो जाय। इसलिये तुम्हें सतर्क रहना होगा। तथापि तुम मुझे भूल नहीं सकोगे। ये दोनों कार्य एक साथ करने होंगे। ठीक इसी प्रकार हमें भी संसार के काम-काज के साथ-साथ भगवान का नाम भी लेना होगा। मन-ही-मन उनका स्मरण करना होगा। ऐसा यदि कर सको, तो समय के अभाव के कारण कम संख्या में जप करने पर भी काफी क्षतिपूर्ति हो जायगी। इसके साथ ही मन में एक स्पष्ट धारणा रहे कि ऐसी बात नहीं कि १०८ बार जप करने से ही हो गया। दीक्षा लेकर केवल १०८ बार जप कर लूँगा, दीक्षा इसके लिये नहीं है। तुम्हें सभी समय जप करना होगा। माँ ने कहा था, "सभी आकर कहते हैं कि कुछ हो नहीं रहा है। प्रतिदिन १०-१५ हजार जप करे, तो देखूँ होता है या नहीं।" उससे कम भी हो, तो ठीक है। परन्तु केवल १०८ बार जप करने से क्या होगा? इसलिये जप के ऊपर जोर देना होगा। जप के साथ-ही-साथ श्रीरामकृष्ण अर्थात् अपने इष्टदेव का चिन्तन भी करना होगा। यदि तुम लोगों का जप ठीक-ठीक हो, तो मन स्वयं ही ध्यान में चला जायगा। तुम्हें समझ में ही नहीं आयेगा, एक समय तुम्हारा जप आदि, और हो सकता है गिनना आदि – यह सब अपने आप ही बन्द हो जायगा।

एक बात और भी है – हम चाहे जितना भी धर्मजीवन क्यों न बिताएँ, पर यदि हमारा संसार के प्रति आकर्षण हो, तो हम अधिक आगे नहीं बढ़ सकते। श्रीरामकृष्ण ने कहा है – नाव यदि नदी के तट के वृक्ष से बँधी हुई हो, तो पतवार चलाने से क्या होगा? नाव वहीं खड़ी रह जायगी। ठीक इसी प्रकार हमें वैराग्य का आश्रय लेना होगा। इसके लिये सर्वप्रथम हमें विचार करना होगा। विचार करके हम देखेंगे कि संसार का कोई भी व्यक्ति या वस्तु स्थायी नहीं है, सब नश्वर हैं; अत: जो सर्वदा विद्यमान हैं, हमें उन्हीं भगवान को पा लेना होगा। जब हमारे मन में यह भाव उठने लगता है, तब हमारा धर्मजीवन सुगम हो जाता है।

संसार में तीन चीजें दुर्लभ हैं। वे हैं – मनुष्य जन्म, भगवत्प्राप्ति की इच्छा और महापुरुष का संग। हम सभी को मनुष्य-जन्म तो मिला ही हुआ है और मैं आशा करता हूँ कि हम सभी में ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा भी है। जो लोग महापुरुष के सम्पर्क में नहीं आ सके हैं, वे 'वचनामृत' पढ़ने पर ठीक वही महापुरुष-संग – साधुसंग प्राप्त करेंगे। यदि कोई धैर्यपूर्वक 'वचनामृत' पढ़कर किसी एक दिन की घटना पर ध्यान करे, तो वह ठीक दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के कमरे में पहुँच जायगा और ध्यान में बैठकर उन श्रीरामकृष्ण की बातें ही सुनेगा। ठीक इसी प्रकार चिन्तन करना होगा। ऐसा यदि हो, तो यही साधुसंग हो गया। राजा महाराज कहते थे, "मैं तुम लोगों को एक वाक्य में ब्रह्मज्ञान देता हूँ। रोज 'वचनामृत' पढ़ना। हर रोज वचनामृत पढ़ने से, संसार की समस्याएँ और संसार के प्रति आसक्ति – ये सब धीरे-धीरे कम होती जायेंगी। और मन में भगवान की प्राप्ति के लिये तीव्र इच्छा जाग उठेगी।"

वेदान्त के आचार्यगण बताते हैं – वेदान्त पढ़ने का अधिकारी कौन है? – जो लोग साधन-चतुष्टय से सम्पन्न हैं। – कौन लोग साधन-चतुष्टय से सम्पन्न हैं? – जिन्हें नित्य-अनित्य वस्तु का विवेक हुआ है। जो लोग इस जगत में तथा स्वर्ग में जाकर भोग करने की लालसा को त्याग सके हैं; जिनमें शम-दम आदि षट्-सम्पत्तियाँ है; और जो लोग मुमुक्षु हैं अर्थात् जिनमें यथार्थ रूप से मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा है। यदि किसी में ये सारे गुण हों, तभी वह व्यक्ति शास्त्र पढ़ने का अधिकारी होगा। इन सबके अभाव में, शास्त्र के तात्पर्य की ठीक-ठीक धारणा नहीं की जा सकती। इन्द्र और विरोचन – दोनों ही गुरु के पास शास्त्र पढ़ने गये। उसके बाद गुरु ने जब उपदेश दिया, तो विरोचन ने एक अर्थ लिया और इन्द्र ने दूसरा अर्थ निकाला। विरोचन ने समझा कि शरीर ही ब्रह्म है। यह सोचकर वे भौतिकवादी बन गये। परन्तु इन्द्र के पास सूक्ष्म विचार-बुद्धि थी। उन्होंने सोचा कि यह शरीर भला कैसे ब्रह्म हो सकता है? शरीर तो स्थायी नहीं है। इस प्रकार विचार करके वे गुरु के उपदेश का सही अर्थ जानने के लिये पुन: उनके पास गये। बारम्बार गुरु के

पास जाकर पूछने से आखिरकार उन्हें ब्रह्मज्ञान हो गया। ठीक उसी प्रकार यदि हममें भी विचार-बुद्धि न हो, यदि हमारा मन भगवान की प्राप्ति के लिये तैयार न हो, तो हम शास्त्र की बातों को ठीक-ठीक नहीं समझ सकेंगे। कई चीजों को हम विरोचन की भाँति उल्टा समझ लेंगे। इसके लिये मन को सूक्ष्म करना होगा, शुद्ध करना होगा और पवित्र करना होगा, इसीलिये साधन-चतुष्टय से सम्पन्न होने को कहा गया है। ऐसा होने पर मन शुद्ध-पवित्र रहेगा। ऐसे व्यक्ति को यथार्थ रूप से वेदान्त का उपदेश दिया जा सकेगा। वह भी तत्काल उसकी धारणा कर सकेगा। जिसका मन साधन-चतुष्टय के द्वारा ठीक-ठीक तैयार हो गया है, उसे यदि एक बार भी महावाक्य सुनाया जाय – '**तत्त्वमसि श्वेतकेतो**', तो उसे तत्काल ब्रह्मज्ञान हो जायगा।

इसी कारण हमें त्याग का आश्रय लेना होगा। त्याग के बिना धर्मजीवन नहीं होता। ठाकुर बारम्बार इस त्याग की बात कह गये हैं। गीता में क्या है? त्याग की ही बातें है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। श्रीमाँ ने ठाकुर के बारे में कहा है – इस बार उनका त्याग ही मुख्य बात है। ऐसा त्याग अन्य किसी भी अवतार में देखने को नहीं मिलता। आज सारे संसार में त्याग का बड़ा अभाव है। सर्वत्र सभी लोग अपने-अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये व्यस्त हैं। पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय – सभी क्षेत्रों में यह स्वार्थसिद्धि ही मुख्य बात हो गयी है। परन्तु हमें याद रखना होगा कि त्याग ही श्रीरामकृष्ण के जीवन का आदर्श है। यह त्याग का आदर्श ठीक रहे, तो बाकी सब अपने आप ही ठीक हो जायगा।

कुछ लोग कहते हैं कि घर-गृहस्थी में रहकर साधन-भजन करने का समय नहीं मिलता। ऐसा कहनेवालों की सोच ठीक नहीं है। बाकी सब करने के लिये समय मिल रहा है, केवल भगवान का नाम लेने के लिये समय नहीं मिल रहा है – ऐसा हो ही नहीं सकता। जिस कार्य को हम एक बार टाल देते हैं, उसे टालते रहने की प्रवृत्ति बनती जाती है। यदि हम समुद्र के किनारे बैठकर कहें, 'मैं समुद्र में स्नान तो करूँगा, परन्तु इसमें लहरें उठ रही हैं। लहरों के भय से मैं सोच रहा हूँ कि जब इसमें लहरें उठना बन्द हो जायेंगी, तब मैं निश्चिन्त होकर स्नान करूँगा।'' ऐसा कभी नहीं होगा। पर यदि हम थोड़ी-बहुत लहरों के बीच ही जाकर डुबकी लगाकर आ सकें, तभी हमारा समुद्र-स्नान हो सकेगा। अन्यथा वह कभी नहीं होगा। घर-संसार में भी ठीक ऐसा ही है। झंझट लगे ही रहेंगे। परन्तु उन्हीं के बीच में यदि समय निकालकर हम भगवान का नाम ले सकें, तभी समय मिल सकेगा, अन्यथा निश्चिन्त होने के बाद भगवान का नाम लेना – ऐसा कभी नहीं होगा। इस कारण हम जब जिस भी अवस्था में क्यों न रहें, प्रयास किये जाना होगा।

हम अपने शरीर के लिये सब कुछ करते हैं। शरीर को स्वस्थ रखने के लिये हम खाना-पीना करते हैं, टॉनिक-विटामिन आदि लेते हैं, डॉक्टरों से भलीभाँति जाँच कराते हैं। क्यों? ऐसा न करें, तो हमारा शरीर रुग्ण हो जायगा, बेकार हो जायगा। तब मैं काम-काज नहीं कर सकूँगा, काम-काज में किसी तरह का उत्साह नहीं रहा जायगा और मैं अपना घर नहीं चला सकूँगा। इस विषय में हमारा ज्ञान पक्का है। इसीलिये हम शरीर की बराबर देखभाल करते हैं। बहुत अच्छा। परन्तु मन के विषय में तो हम लोगों की कोई धारणा ही नहीं है, मन को भी तो स्वस्थ रखना होगा। मन स्वस्थ न रहे, तो हमारा उद्धार नहीं होगा। परन्तु इस बात को हम कोई महत्त्व नहीं देते। हम लोग जिस दशा में हैं, वह मन की रुग्ण अवस्था है। कुछ भी यदि हमारे मन के माफिक नहीं हुआ, तो तत्काल हमारा मन बिगड़ जाता है। कोई व्यक्ति यदि एक बात भी सुना दे, तो हमारा सारा दिन खराब जाता है; या कोई बुरी घटना हो जाय, तो उससे मन विषादग्रस्त हो जाता है। मन को धीर-स्थिर तथा शान्त रखना होगा। मन यदि खूब स्वस्थ हो, तो वह इतना धीर तथा शान्त भाव से रहेगा कि दु:ख-कष्टों के आने या नाना प्रकार की अशान्तिपूर्ण घटनाएँ होने पर भी मन जरा भी विचलित हुए बिना शान्त बना रहेगा। यही स्वस्थ मन की अवस्था है। परन्तु इसे प्राप्त करने के लिये हमें काफी साधन-भजन करने की आवश्यकता होगी।

इसके अतिरिक्त यह भी बता दूँ कि जब हम इस जगत् से चले जाएँगे और उसके बाद जब हमें फिर से जन्म लेना होगा, तब सम्भव है कि हमें स्वस्थ-सबल शरीर तो मिले, पर स्वस्थ मन न मिले। क्योंकि यह मन ही तो जाकर फिर से जन्म लेगा। क्यों? मैंने स्थूल-शरीर को छोड़ दिया, परन्तु सूक्ष्म-शरीर जाकर फिर से एक स्थूल शरीर ग्रहण करेगा। मन सूक्ष्म-शरीर का ही एक अंग है। मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियों आदि को मिलाकर सूक्ष्म-शरीर का निर्माण होता है। यह सूक्ष्म-शरीर जब पुन: जिस स्थूल-शरीर को लेकर जन्म ग्रहण करता है, तब वही मन फिर से जन्म लेगा। इस कारण इसी जन्म में मृत्यु के समय यदि मेरा मन स्वस्थ होने की जगह रोगग्रस्त रहा, तो मैं उस रुग्ण शरीर के साथ ही जन्म लूँगा। और मृत्यु के समय यदि मैं अच्छे संस्कार लेकर जाऊँ, तो क्या होगा? अर्जुन ने भगवान से पूछा – योगभ्रष्ट कहाँ जाता है, मृत्यु के बाद उसका क्या होता है? भगवान बोले – योगभ्रष्ट पुन: जन्म लेता है, अच्छी जगह, अच्छे कुल में जन्म लेता है। उसने पिछले जन्म में अपना योगाभ्यास जहाँ छोड़ा था, ठीक वहीं से फिर शुरू करता है। इस प्रकार करते-करते जब तक उसे भगवान का दर्शन नहीं हो जाता,

तब तक वह अग्रसर होता रहेगा। इसीलिये हमें मन के ऊपर अधिक ध्यान देना होगा। परन्तु हम इसके ठीक उलटा करते हैं। मन के ऊपर जरा भी ध्यान न देकर शरीर पर ही पूरा ध्यान देते हैं। मन के ऊपर ध्यान देने के लिये जप-ध्यान आदि करना होगा। तब मन भी स्वस्थ रहेगा।

एक बात और – श्रीमाँ सारदा देवी कहती थीं, ''सबने एक बात सीख रखी है – 'भगवान की कृपा के बिना हम कुछ भी नहीं कर सकते।' यह मानो तोते के 'राधाकृष्ण' कहने के समान है।'' मैं जब चेरापुंजी में गया था, उन दिनों वहाँ एक मैना थी। उसने मुझसे कहा, ''रामकृष्ण कहो, रामकृष्ण कहो।'' इधर यदि बिल्ली आये, तो वह रामकृष्ण बोलना छोड़कर 'काँ-काँ' करेगी। ठीक इसी प्रकार हम सब कुछ भगवान पर छोड़कर कहते हैं, ''हममें तो कोई शक्ति नहीं है, सब उनकी इच्छा है।'' यह अपने आपको ठगना मात्र है। माँ कहा करती थीं, ''सभी कहते हैं – कृपा, कृपा! परन्तु कृपा क्या करेगी? कृपा जाकर लौट आती है। क्यों? कृपा जिसके पास जा रही है, वह कृपा को ग्रहण करने के योग्य नहीं हुआ है। वह उसे ले नहीं पा रहा है। इसी लिये कृपा लौट आती है।'' अत: यदि हम लोग साधन-भजन न करें, तो हमें भगवान की कृपा नहीं मिल सकेगी।

रामानुज-सम्प्रदाय की 'प्रपत्ति' साधना का एक अंग है। 'प्रपत्ति' अर्थात् शरणागति, भगवान के शरण में जाना होगा। भगवान की कृपा होने पर उनका दर्शन होगा। कठोपनिषद् में एक मंत्र है, जिसके दो प्रकार के अर्थ निकलते हैं। एक अर्थ है – आत्मा जिसे चुन लेती है, अर्थात् जो स्वयं आत्मदर्शन के लिये उद्यमी होता है, वही आत्मदर्शन करता है। इसका एक अन्य अर्थ है – भगवान जिस पर कृपा करते हैं, उसी को आत्मा की उपलब्धि होती है। आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में पहला अर्थ लिया है, रामानुजाचार्य ने अपने भाष्य में परवर्ती अर्थ लिया है। भगवान जिन पर कृपा करते हैं, वे ही उनका दर्शन पायेंगे, यह बात ठीक ही है। श्रीरामकृष्ण ने भी कहा है – भगवान की कृपा के बिना हम कुछ भी नहीं कर सकते। एक भजन में भी है, ''यदि तुम स्वयं न जनाओ, तो तुम्हें भला कौन जान सकता है?'' बात सही है! परन्तु भगवान क्या हम लोगों की ओर से किसी तरह की प्रत्याशा नहीं रखते? हम लोग साधन-भजन कुछ नहीं करेंगे, ऐसे ही उनकी कृपा पा लेंगे – ऐसा नहीं होगा। हमें अपनी सामर्थ्य के अनुसार साधन-भजन करके उनके द्वार पर पड़े रहना होगा, तभी एक-न-एक दिन उनकी कृपा होगी। तब उनका दर्शन होगा। जैसा कि बाइबिल में कहा गया है कि लोग दीपक जलाकर बैठे थे कि ईसा आयेंगे। परन्तु कोई-कोई सो गया था, केवल दो-एक लोग ही जगे हुए थे। ठीक उसी प्रकार हम लोगों में भी यदि साधन-भजन न रहे, तो हमें भगवान की कृपा नहीं मिलेगी।

हमें यह बात याद रखनी होगी कि जब हम यथासाध्य साधन-भजन करेंगे, भगवान ने हमें जितनी शक्ति दी है, उसका पूरा-पूरा उपयोग करेंगे, तभी उनकी कृपा होगी। तब हमें उनके पास से और भी अधिक शक्ति प्राप्त होगी। इस बात को भुलाने से काम नहीं चलेगा। इसीलिये कहता हूँ कि भगवान की कृपा की बात को भूल जाओ। सबसे पहले अपनी कृपा – आत्मकृपा की जरूरत है। यदि मैं साधन-भजन करूँ, तो भगवान भी कृपा करेंगे, नहीं तो नहीं करेंगे। साधना के क्षेत्र में यह बात हमेशा याद रखनी होगी।

धर्मजीवन में कभी हताश नहीं होना चाहिये। हताश होने पर हम कभी आगे नहीं बढ़ सकेंगे। भगवान ने गीता में अर्जुन को योगाभ्यास का उपदेश देते हुए कहा है, '**योक्तव्यो योगऽनिर्विण्ण-चेतसो**' (गीता ६/२३) – निराशारहित चित्त के साथ योग का अभ्यास करना होगा। मन में कभी हताशा को प्रश्रय न देकर प्रतिदिन निष्ठापूर्वक इस योग का अभ्यास करना होगा। ऐसा करने पर ही हम उन्नति कर सकेंगे। और 'मेरा कुछ भी नहीं हो रहा है?' 'मेरा क्या हुआ?' 'मेरा क्या होगा?' – ऐसे नकारात्मक भाव मनुष्य की सहायता नहीं करते। श्रीरामकृष्ण कहते थे – मैं भगवान का नाम ले रहा हूँ, मेरा क्यों नहीं होगा? मेरा अवश्य होगा। इस तरह का भाव लेकर चलना होगा। हममें से अनेक लोग कोई-न-कोई भाव लेकर ईश्वर-प्राप्ति के लिये प्रयास कर रहे हैं, परन्तु हमें स्मरण रखना होगा कि भगवत्प्राप्ति हमारे साधन-भजन पर ही निर्भर है।

वैसे केवल साधन-भजन द्वारा ही भगवद्दर्शन नहीं होता। भगवान ने कोई हमारे साथ लिखा-पढ़ी नहीं की है कि तुम इतने लाख जप करो, इतने घण्टे ध्यान करो, तो मैं दर्शन दूँगा। दर्शन देना उनकी अपनी मर्जी से होता है। परन्तु यह सब किये बिना भी वे प्रसन्न नहीं होंगे। दोनों ही बातें सत्य हैं। यह बात हमें सर्वदा याद रखनी होगी। हम कभी भी यह सोचकर अपने को धोखा न दें कि हमने तो अपना सब कुछ भगवान पर छोड़ दिया है, उनकी कृपा हुए बिना हम कुछ भी नहीं कर सकेंगे। हमें ऐसी बातें कदापि नहीं कहनी चाहिये। इन सब बातों को मन में कहीं भी स्थान न देकर, उनकी कृपा पाने के लिये, हममें जितनी भी शक्ति है, हम उसका पूरा-पूरा सदुपयोग करते जायेंगे। ❑❑❑

स्वामी विवेकानन्द की हिमालय-यात्रा (२)

स्वामी विदेहात्मानन्द

श्रीमाँ सारदा देवी से विदा तथा आशीर्वाद पाने के बाद मठ लौटते हुए रास्ते में स्वामीजी गंगाधर से बोले, "देख गैंजेज, कहीं और नहीं जाना होगा – सीधे उत्तराखण्ड चलेंगे।" प्रस्थान के पूर्व उन्होंने मठ के गुरुभाइयों से कहा था, "इस बार स्पर्शमात्र से लोगों को रूपान्तरित कर देने की क्षमता प्राप्त किये बिना वापस नहीं लौटूँगा।"

यह यात्रा जुलाई १८९० के उत्तरार्ध में प्रारम्भ हुई थी। स्वामीजी की सभी जीवनियों में उनके जुलाई महीने में वराहनगर मठ से प्रस्थान करने की बात लिखी है और वे अगस्त में भागलपुर पहुँचे थे। कलकत्ते से भागलपुर की दूरी करीब ३६५ मील है और लगता है कि कलकत्ते से भागलपुर पहुँचने में उन्हें कदाचित् एक सप्ताह या उससे भी अधिक समय लगा था। महेन्द्रनाथ दत्त लिखते हैं, "हरमोहन मित्र तथा बसुमती के (संस्थापक) उपेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय उन्हें स्टेशन पहुँचाने गये। रविवार का दिन था। दोनों ने ट्रेन से पश्चिम की यात्रा की।"[१] सम्भवत: वह २० या २७ जुलाई का रविवार था।

यात्रा का श्रीगणेश

'युगनायक विवेकानन्द' ग्रन्थ की एक पाद-टिप्पणी में स्वामी गम्भीरानन्दजी ने प्रश्न उठाया है, "क्या वे लोग रास्ते में नदिया, शान्तिपुर आदि भी देखते हुए गए थे? निश्चय ही यह उत्तराखण्ड जाने का सीधा मार्ग नहीं है। फिर भी किसी अज्ञात कारण से ही इन लोगों ने लम्बा रास्ता ही पकड़ा था या नहीं, यह कौन जाने?"[२] सम्भवत: स्वामीजी और गंगाधर कलकत्ते से गंगा का किनारा पकड़कर पैदल ही चल पड़े थे। भागलपुर पहुँचकर स्वामीजी ने एक व्यक्ति से कहा था, "प्राचीन आर्यों के ज्ञान, बुद्धि एवं प्रतिभा का जो थोड़ा-बहुत अंश बच रहा है, उसका अधिकांश गंगा-तटवर्ती अंचलों में ही दीख पड़ता है। हम गंगा से जितना ही दूर जाते हैं, उतना ही उनका अभाव दीख पड़ता है। इसी कारण प्राचीन शास्त्रों में गंगा की इतनी महिमा गाई गयी है।" स्वामीजी तथा अखण्डानन्दजी के भागलपुर जाने का एक अन्य कारण भी था, जिसे हम इस लेख के अन्त में बतायेंगे।

स्वामीजी की इस यात्रा को एक तरह से उनका महाभिनिष्क्रमण कहा जा सकता है, क्योंकि इस बार जो उन्होंने १८९० की जुलाई में कलकत्ते के मठ से प्रस्थान किया, तो सीधे १८९७ ई. की फरवरी में, अर्थात् लगभग ७ वर्ष बाद ही 'मठ' लौटे। स्वामीजी की इस यात्रा के विषय में सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान रोमाँ रोलाँ लिखते हैं, "यह एक महान निष्क्रमण था। एक गोताखोर के समान उन्होंने भारत-समुद्र में गोता लगाया और इस समुद्र ने उनके पदचिह्नों को छिपा लिया। इसमें विचरते असंख्य प्राणियों और हजारों संन्यासियों के बीच एक गुमनाम गेरुआधारी संन्यासी के सिवा अन्य कुछ भी न थे। परन्तु मेधा की ज्योति से उनके नेत्र चमक रहे थे। अपनी वेशभूषा से निरपेक्ष वे सर्वत्र एक महाराजा ही थे।"

भागलपुर में काल-क्रमण

अगस्त के प्रथम सप्ताह में भागलपुर पहुँचकर उन लोगों ने वहाँ गंगाजी के तट पर राजा शिवचन्द्र के महल के निकट आश्रय लिया। वे लोग थके हुए थे, परन्तु उनके चेहरे वैराग्य की आभा से दमक रहे थे। वहाँ के एक प्रतिष्ठित नागरिक कुमार नित्यानन्द सिन्हा का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ। उन्हें वे साधारण घुमक्कड़ संन्यासी नहीं लगे। थोड़ी देर युवा संन्यासियों के साथ बातें करने से ही उनका अनुमान विश्वास में परिणत हुआ।

उनके यहाँ एक रात बिताने के बाद वे लोग कुमार साहब के संरक्षक तथा गृहशिक्षक बाबू मन्मथनाथ चौधरी के घर पर गये। उन दिनों उस घर में मथुरानाथ सिन्हा नामक एक वकील भी ठहरे हुए थे। उन्हें भी इन दोनों संन्यासियों से मिलने तथा बातें करने का सुयोग प्राप्त हुआ। ११ अगस्त १९०५ ई. को मथुरा बाबू ने स्वामीजी के एक शिष्य के नाम अपने पत्र में इस काल की स्मृतियों के विषय में लिखा था –

मथुरानाथ सिन्हा की स्मृतिकथा

"लगभग १५ वर्षों पूर्व मैं भागलपुर में बाबू मन्मथनामथ चौधरी के घर एक अतिथि के रूप में ठहरा हुआ था। इसी कारण मुझे स्वामीजी से मिलने तथा बातें करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। एक दिन सुबह मैंने घर में दो संन्यासियों के आने से होनेवाली थोड़ी हलचल सुनी। वे लोग कुमार नित्यानन्द द्वारा देखे गये थे। कुछ कारणों से कुमार को लगा कि ये साधारण कोटि के संन्यासी नहीं है। उन लोगों के साथ थोड़ी-सी बातचीत से ही उनके विचारों का सत्यापन हो गया और यह बात प्रकट हो गयी कि वे लोग उच्च शिक्षा सम्पन्न हैं और उनमें से एक अद्भुत प्रतिभा से सम्पन्न है।... उन्हें देखते ही मुझ पर उनका सकारात्मक प्रभाव पड़ा। मुझे याद आया कि उनमें से एक को मैंने अपने कॉलेज के दिनों में प्राय: ही कलकत्ते में साधारण ब्राह्मसमाज के समूहगान का नेतृत्व करते देखा था। उनके साथ मैंने साहित्य, दर्शन तथा

१. विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली, खण्ड १, पृ. २०३

२. युगनायक विवेकानन्द, प्रथम संस्करण, भाग १, पृ. २३९

धर्म आदि अनेक विषयों पर बातें कीं। मुख्यत: अन्तिम दो विषयों पर ही चर्चा हुई। ऐसा लगा मानो उनके श्वास-प्रश्वास से विद्वत्ता तथा आध्यात्मिकता प्रवाहित हो रही हो। मैंने पाया कि उनके उपदेशों का सार था – एक प्रबल तथा नि:स्वार्थ देशभक्ति और वे प्रत्येक विषय को उसी के योग से सजीव कर डालते थे। यह उनका एक स्थायी वैशिष्ट्य था। बाद में जब मैंने शिकागो की धर्म-महासभा में उनकी सफलता के क्रम-वर्धमान विवरण पढ़े, तो मुझे लगा कि भारतवर्ष को उसका सही मनुष्य प्राप्त हो गया है।''[३]

मन्मथनाथ चौधरी की स्मृतिकथा

स्वामीजी के भागलपुर आगमन तथा निवास के विषय में मन्मथ नाथ चौधरी ने १९०६ ई. के जून महीने में स्वामीजी के एक शिष्य को लिखा था –

''१८९० ई. के अगस्त की एक सुबह स्वामी विवेकानन्द स्वामी अखण्डानन्द के साथ अप्रत्याशित रूप से मेरे घर आ पहुँचे। उन लोगों को साधारण साधु समझकर पहले तो मैंने उनकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। हम लोग दोपहर का भोजन समाप्त कर एक साथ बैठे थे और उन लोगों को अशिक्षित समझकर मेरी उनसे बातें करने की भी इच्छा नहीं हो रही थी; अत: मैं बौद्ध-धर्म विषयक एक ग्रन्थ का अँग्रेजी अनुवाद पढ़ने लगा। थोड़ी देर बाद स्वामीजी ने मुझसे पूछा कि मैं कौन-सी पुस्तक पढ़ रहा हूँ। उत्तर में मैंने पुस्तक का नाम बताया और पूछा, 'क्या आप अँग्रेजी जानते हैं?' उन्होंने उत्तर दिया, 'हाँ, थोड़ी-बहुत।' तदुपरान्त मैंने उनके साथ बौद्ध धर्म के विषय में चर्चा शुरू की, परन्तु थोड़ी देर बाद ही समझ गया कि वे मेरी अपेक्षा हजार गुना अधिक विद्वान हैं। उन्होंने अनेक अँग्रेजी ग्रन्थों से उद्धरण दिये और दानापुर के बाबू मथुरानाथ सिन्हा और मैं उनकी विद्वत्ता पर विस्मित हो गये और पूरे मनोयोग के साथ उनकी बातें सुनने लगे। स्वामी अखण्डानन्द मौन बैठे रहे।

''उनके ज्ञान का आकलन करने हेतु मैंने पूछा, 'शाक्यसिंह (बुद्ध) ने हिन्दू संन्यासियों के साथ जो साधनाएँ की थीं, वे क्या निष्फल सिद्ध हुईं?' उन्होंने उत्तर दिया, 'नहीं, उनकी कोई भी साधना निष्फल नहीं गयीं, क्योंकि शाक्यसिंह के द्वारा बुद्धत्व प्राप्त होने के पहले हिन्दू संन्यासियों के साथ की गयी उन कठोर साधनाओं से ही उन्होंने वे शक्तियाँ अर्जित की थीं, जिनके द्वारा वे अपने सिद्धान्तों को मूर्त रूप देने तथा प्रचारित करने में समर्थ हुए थे।'

यह उत्तर मुझे युक्तिसंगत लगा और मुझे यह देखकर भी सन्तोष हुआ कि दूसरे संन्यासी भी अशिक्षित नहीं हैं। शाम तक इसी प्रकार हमारि विभिन्न धार्मिक विषयों पर चर्चा होती रही। इसके बाद स्वामी अखण्डानन्द ने बड़ी भक्ति के साथ विभिन्न संस्कृत स्तोत्रों की आवृत्ति की।

''इसके बाद से हम लोग विभिन्न उच्च कोटि के विषयों पर चर्चा करते हुए समय बिताया करते थे।

''एक दिन स्वामीजी ने मुझसे पूछा कि क्या मैं कोई विशेष साधना करता हूँ? और इसके बाद हम लोगों ने काफी देर तक योग-साधना पर चर्चा की। इससे मेरी दृढ़ धारणा हो गई कि ये कोई साधारण व्यक्ति नहीं हैं; क्योंकि इन्होंने योग के विषय में जो बातें कहीं, वे हू-ब-हू वही थीं, जो मैंने स्वामी दयानन्द सरस्वती से सुनी थीं। साथ ही उन्होंने उस विषय पर अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य बताये, जिन्हें मैंने पहले कभी नहीं सुना था।

''इसके बाद उनके संस्कृत-ज्ञान की थाह लेने के लिए मैं अपने पास के सारे उपनिषद् ले आया और और इनमें से गूढ़ अंशों के विषय में प्रश्न करने लगा। उनकी प्रांजल व्याख्या सुनकर मैं समझ गया कि शास्त्रों पर इनका असाधारण अधिकार है। और उपनिषदों के श्लोकों की जैसी आवृत्ति की, वह अत्यन्त मनमोहक था। इस प्रकार अँग्रेजी, संस्कृत तथा योग के विषयों में उनकी समान रूप से अद्भुत विद्वत्ता का परिचय पाकर मैं उनकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। यद्यपि वे मेरे घर पर केवल सात दिन रहे, तथापि उनके प्रति मेरी ऐसी श्रद्धा हो गयी कि मैंने मन-ही-मन यह संकल्प कर लिया कि किसी भी हालत में मैं उन्हें कहीं अन्यत्र नहीं जाने दूँगा। अत: मैं उनसे हठपूर्वक सदा के लिये भागलपुर में ही रह जाने के लिए अनुरोध करने लगा।

''एक दिन मैंने देखा कि वे अपने आप में कुछ गुनगुना रहे हैं। अत: मैंने उनसे पूछा कि क्या वे गाना जानते हैं? उन्होंने उत्तर दिया, 'थोड़ा-बहुत।' हम लोगों के बहुत जोर देने पर उन्होंने गाया; और यह देखकर मेरे आश्चर्य की सीमा न रही कि अपनी विद्वत्ता के समान ही संगीत में भी अद्भुत रूप से पारंगत थे। अगले दिन मैंने उनसे पूछा कि यदि उन्हें कोई आपत्ति न हो, तो मैं कुछ गायकों तथा वादकों को बुलवा लूँ। उनकी सहमति पाकर मैंने अनेक गायकों को आमंत्रित किया, जिनमें से कुछ उस्ताद भी थे। सोचा था कि रात के नौ-दस बजे के बीच ही संगीत की बैठक समाप्त हो जायगी, इसलिये मैंने अतिथियों के लिये भोजन की व्यवस्था नहीं की थी। इधर स्वामीजी लगातार भोर के दो-तीन बजे तक गाते रहे। बिना किसी अपवाद के सभी लोग उस संगीत में ऐसे मुग्ध हो गये थे कि वे भूख-प्यास तथा समय का बोध भी खो बैठे थे। कोई भी अपने स्थान से नहीं हिला और

३. The Life of Swami Vivekananda by His Eastern and Western Disciples, 1989, Vol. I, p. 243-44; युगनायक विवेकानन्द, खण्ड १, पृ. २४२

न किसी ने घर जाने की सोची। कैलास बाबू (तबले पर) स्वामीजी के गायन के साथ संगत कर रहे थे, परन्तु आखिरकार विवश होकर उन्हें रुक जाना पड़ा; क्योंकि उनकी उँगलियाँ सुन्न तथा चेतनाहीन हो गयी थीं। ऐसी अलौकिक शक्ति मैंने किसी में भी नहीं देखी और न भविष्य में कभी देखने की आशा ही है। अगले दिन शाम को पिछली रात के सभी अतिथि और साथ ही अन्य अनेक लोग बिना बुलाये ही आ पहुँचे। संगत करनेवाले भी आए; परन्तु स्वामीजी ने उस दिन नहीं गाया, अतः सभी को निराश होना पड़ा।

"एक अन्य दिन मैंने उनके सामने प्रस्ताव रखा कि मैं उनका भागलपुर के सभी धनवान लोगों से परिचय करा दूँगा और मैं स्वयं ही उन्हें अपनी घोड़ेगाड़ी में ले जाऊँगा, ताकि उन्हें कोई असुविधा न हो। परन्तु वे उसे खारिज करते हुए बोले, "धनिकों के घर जाना संन्यासी का धर्म नहीं है!" उनके ज्वलन्त वैराग्य ने मुझ पर गहरा प्रभाव डाला। सचमुच ही उनके सान्निध्य में मुझे ऐसी बातें सीखने को मिलीं, जो आध्यात्मिक आदर्शों के रूप में सदा-सर्वदा के लिये मेरे जीवन की अंग बन गयीं।

"बचपन से ही मेरा निर्जन में रहकर साधना करने की ओर झुकाव था। स्वामीजी से साक्षात्कार होने के बाद यह आकांक्षा और भी बलवती हो उठी। मैं स्वामीजी से प्रायः ही कहता, 'चलिए, हम दोनों वृन्दावन चलें। वहाँ श्रीगोविन्दजी के मन्दिर में दोनों के नाम पर तीन-तीन सौ रुपये जमा कर देने पर आजीवन भोजन के रूप में उनका प्रसाद मिलता रहेगा। इस प्रकार हम लोग किसी पर भी भार हुए बिना ही यमुना तट पर किसी निर्जन स्थान में रहकर दिन-रात भक्ति की साधना करते रहेंगे।' इसके उत्तर में उन्होंने कहा था, 'हाँ, एक विशेष स्वभाव या प्रकृतिवाले व्यक्ति के लिए निःसन्देह ऐसी व्यवस्था उत्तम है, परन्तु सबके लिए नहीं।' अर्थात् उनके जैसे सर्वत्यागी के लिए यह व्यवस्था ठीक नहीं होगी। उनके अनेक विचारों में से दो बातों ने मुझे काफी प्रभावित किया था, जो इस प्रकार हैं –

"प्राचीन आर्यों के ज्ञान, बुद्धि तथा प्रतिभा का जो थोड़ा-बहुत अंश बच रहा है, उसका अधिकांश गंगा-तटवर्ती अंचलों में ही दीख पड़ता है। हम गंगा से जितना ही दूर जाते हैं, उतना ही उनका अभाव दीख पड़ता है। इसी कारण प्राचीन शास्त्रों में गंगा की इतनी महिमा गाई गयी है, उस पर विश्वास होता है।"

"निरीह हिन्दू – यह उपाधि निन्दासूचक न होकर बल्कि हमारे चरित्र की महिमा एवं हमारे गौरव को व्यक्त करती है। क्योंकि मानव स्वभाव की जो पाशविक शक्ति अपने स्वार्थ के लिये अन्य मानव भाइयों के गले पर छुरी फेरने को प्रेरित करती है, सोचो कि उसे नियंत्रण में लाने के लिये कितनी नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति की आवश्यकता होगी, प्रेम एवं करुणा भाव के कितने विकास की आवश्यकता होगी!

"भागलपुर में रहते समय स्वामीजी केवल दो बार कोई स्थान देखने गये थे – पहली बार तो हम बरारी के महात्मा पार्वतीचरण मुखोपाध्याय से मिलने गये और दूसरी बार हम नाथनगर के जैनियों का पवित्र मन्दिर देखने गये। वहाँ पर स्वामीजी ने जैन आचार्यों से जैन धर्म के विषय में चर्चा की। वे इन यात्राओं से बड़े प्रसन्न थे और गंगातट की दृश्यावली का सौन्दर्य देखकर बड़ा उल्लास व्यक्त किया। वे बोले, 'ये स्थान साधना की दृष्टि से बड़े उपयुक्त हैं।' ...

"स्वामीजी मन-ही-मन भलीभाँति जानते थे कि मैं उन्हें स्वेच्छापूर्वक या आसानी से भागलपुर छोड़कर नहीं जाने दूँगा। अतः एक दिन जब मैं किसी आवश्यक कार्य से बाहर गया हुआ था, तभी वे इस सुयोग का लाभ उठाकर मेरे घर के अन्य लोगों से विदा लेकर चले गए। उन्हें लौटा लाने के लिए मैंने जी-जान से उनकी खोज की, परन्तु मुझे कहीं भी उनका कोई सूत्र नहीं मिला। तथापि मैंने न जाने क्यों ऐसा सोचा कि इस विषय में मेरी इच्छा पूर्ण होनी ही चाहिये! स्वामीजी भला क्यों वहाँ कूप-मण्डूक की भाँति पड़े रहते, जबकि उनका कार्यक्षेत्र तो समग्र विश्व है!

"उन्होंने मेरे समक्ष अपनी बदरिकाश्रम जाने की मंशा जाहिर की थी। अतः उनके भागलपुर-त्याग के उपरान्त मैं उनकी खोज में हिमालय में अल्मोड़ा तक गया था। वहाँ लाला बद्री साह ने मुझे बताया कि वे कुछ दिनों पूर्व अल्मोड़ा से जा चुके हैं। यह सोचकर कि अब तक वे उस उत्तरी तीर्थ (बदरिकाश्रम) की दिशा में काफी आगे निकल गये होंगे, मैंने उनका पीछा करने का संकल्प छोड़ दिया।

"उनके अमेरिका से लौटने के बाद, मेरी हार्दिक इच्छा हुई कि एक बार उन्हें भागलपुर ले आऊँ, परन्तु सम्भवतः अवकाश या सुयोग के अभाव में वे नहीं आ सके।"[४]

कुछ अन्य बातें

स्वामीजी की पुरानी अंग्रेजी जीवनी में लिखा है कि मन्मथनाथ बाबू पहले ब्राह्मसमाजी थे, परन्तु स्वामीजी के साथ हुई चर्चाओं तथा उनके आध्यात्मिक शक्ति के प्रभाव से पुनः हिन्दू भावों में अनुप्राणित हो गये और राधा-कृष्ण-लीला तक में विश्वास करने लगे।

एक अन्य समय जैन आचार्यों के साथ उनकी जैनधर्म के विषय में काफी चर्चाएँ हुई थीं और स्वामीजी का जैनधर्म पर

४. The Life of Swami Vivekananda by His Eastern and Western Disciples, 1989, Vol. I, p. 246-47; also Ibid., Ed. 1913, Vol. II, pp. 104-5; युगनायक विवेकानन्द, खण्ड १, पृ. २३९-४२

अधिकार देखकर आचार्यगण अत्यधिक सन्तुष्ट हुए। इस बातचीत के फलस्वरूप स्वामीजी ने भी जैन धर्म के बारे में एक युक्तिपूर्ण धारणा बनायी और उन्हें यह विश्वास हुआ कि जैन धर्म हिन्दू धर्म की ही एक शाखा मात्र है और उसका बौद्ध धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।

भागलपुर में मन्मथ बाबू के घर में हुई संगीत-गोष्ठी में स्वामीजी ने जो भजन गाये थे, उनमें से एक के विषय में स्वामी अखण्डानन्दजी ने अपनी बातचीत के दौरान बताया था, "भागलपुर में स्वामीजी तानपुरा लेकर गा रहे थे –

एलो ना एलो ना श्याम, कुंजे तो एलो ना।
रजनी पोहाये जाए, तबुओ से एलो ना।।

भावार्थ – कुंज में आया नहीं, आया नहीं श्याम।
रजनी बीत चली, तो भी आया नहीं श्याम।।

संध्या से लेकर रात के बारह बज गये, एक ही गाना चल रहा था। गाना रुकता ही न था। कितने ही गणमान्य लोग बैठे थे, कोई उठ भी नहीं पा रहा था, उधर भोजन ठण्डा हुआ जा रहा था। अन्त में बुला-बुलाकर गायन भंग किया गया। स्वामीजी का भाव बड़ा प्रबल होता था।"[५]

भागलपुर आने का सम्भावित कारण

जैसा कि इस लेख के प्रारम्भ में प्रश्न उठाया गया है कि जब स्वामीजी हिमालय पहुँचने के लिये इतनी जल्दी मचा रहे थे, तो फिर वे भागलपुर की ओर क्यों गये?

स्वामी अखण्डानन्दजी ने अपने बातचीत के दौरान बताया था, "सुरेश बाबू का देहान्त हो जाने पर स्वामीजी तथा मैं उत्तराखण्ड जाने को तैयार हुए। उन्होंने मुझसे कहा – 'देख, गंगा, कहीं भी उतरा नहीं जायगा; सीधे उत्तराखण्ड जाना होगा।' स्वामीजी की टनेल (सुरंग) देखने की इच्छा थी। इसीलिए हम लोग घूमकर लुप लाइन से भागलपुर होते हुए लखीसराय आये। ... लखीसराय से लौटकर बाबा वैद्यनाथ का दर्शन करने के बाद हम दोनों काशीधाम में प्रमदादास मित्र महाशय के मकान में ठहरे।[६]

भागलपुर की प्राचीन सुरंग

स्वामी अखण्डानन्दजी की इस उक्ति से ज्ञात होता है कि वे लोग भागलपुर होकर लखीसराय गये थे। और स्वामीजी की विशेष इच्छा कोई सुरंग देखने की थी और सम्भवत: यही उनके भागलपुर आगमन का मुख्य कारण था। प्रश्न उठता है कि वह सुरंग कौन-सा था और उसकी क्या विशेषता थी? हमारे इस प्रश्न के समाधान हेतु गोंदिया (महाराष्ट्र) के श्री देवाशीष राय ने इंटरनेट पर शोध किया और कुछ जानकारियाँ प्रस्तुत कीं। उनका सार-संक्षेप इस प्रकार है –

वैदिक तथा महाभारत कालीन अंगदेश नामक राज्य के अन्तर्गत वर्तमान बिहार प्रान्त के मुंगेर तथा भागलपुर जिले आते थे। यह अंगदेश १६ महा-जनपदों में से एक माना जाता था। इसकी राजधानी चम्पा थी। महाभारत काल में दुर्योधन ने महान धनुर्धर कर्ण को इस देश का राजा घोषित कर दिया था। उपरोक्त दोनों ही नगर गंगा तट पर बसे हुए हैं और उनके बीच की दूरी लगभग ५० किलोमीटर है। प्राचीन विक्रमशीला विश्वविद्यालय के अवशेष भी भागलपुर से करीब ४० कि.मी. की दूरी पर प्राप्त हुए हैं। पुरातत्त्व विभाग ने मुंगेर के किले आदि के उत्खनन तथा संरक्षण का कार्य सम्पन्न किया है। कहते हैं कि भागलपुर और मुंगेर के नगर गंगातट से होकर जानेवाले एक सुरंग से जुड़े हुए थे। उस सुरंग के अवशेष भागलपुर के निकट कुप्पाघाट में प्राप्त हुए हैं। परवर्ती काल में एक महात्मा ने उस सुरंग के भीतर लगभग डेढ़ वर्ष साधना कीं। बाद में वे महर्षि मेही परमहंस (१८८५-१९८६) के नाम से प्रसिद्ध हुए।

सम्भावना है कि उन दिनों अंगदेश तथा उसके आसपास कोई पुरातात्त्विक उत्खनन हो रहा हो और उसमें कुप्पाघाट के इस सुरंग तथा कुछ प्राचीन अवशेष मिलने की बात किसी समाचार-पत्र या पुरातात्त्विक पत्रिका में छपे हों, जिन्हें पढ़कर स्वामीजी के मन में प्राचीन अंगदेश तथा सुरंग के अवशेष देखने की इच्छा जाग्रत हुई हो। इस विषय में विस्तृत शोध की आवश्यकता है। अस्तु।

भागलपुर के बाद दोनों गुरुभाई लखीसराय होते हुए बाबा वैद्यनाथ का दर्शन करने देवघर गये। ❖ **(क्रमशः)** ❖

---

५. स्वामी अखण्डानन्द के सान्निध्य में, स्वामी निरामयानन्द, सं. १९९६, पृ. ९८; और स्वामी अखण्डानन्द, स्वामी अन्नदानन्द, पृ. ६०

६. स्वामी अखण्डानन्दके जेरूप देखियाछि (बँगला), संकलक स्वामी चेतनानन्द, कलिकाता, पृ. ९; प्रेमानन्द (बँगला), स्वामी ओंकारेश्वरानन्द, देवघर, द्वितीय सं. १३४६, भाग २, पृ. ३५-३६

स्वामी ब्रह्मानन्द के संस्मरण

स्वामी अखिलानन्द

(भगवान श्रीरामकृष्ण के एक प्रधान शिष्य तथा रामकृष्ण मठ तथा मिशन के प्रथम संघाध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्दजी आध्यात्मिक भावों के एक अपूर्व ज्योतिपुंज थे। उनके बारे में ये संस्मरण हालीवुड (अमेरिका) से प्रकाशित होनेवाली अंग्रेजी द्विमासिक पत्रिका 'वेदान्त एंड द वेस्ट' के सितम्बर-अक्तूबर, १९५४ के अंक में प्रकाशित हुए थे। वहीं से स्वामी विदेहात्मानन्दजी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

१९११ ई. के फरवरी माह की बात है। एक दिन मैं स्वामी प्रेमानन्दजी के दर्शन की इच्छा से स्वामी आत्मबोधानन्द के साथ बलराम बोस के घर गया। उन दिनों वे वहीं निवास कर रहे थे। वहाँ पहुँचते ही हमने देखा कि स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण के जन्मोत्सव की व्यवस्था के सिलसिले में कहीं बाहर जा रहे हैं। हमारे प्रणाम करने पर उन्होंने बड़े स्नेहपूर्वक देखा और हमारे साथ वार्तालाप करने को पुन: भीतर लौट आये। उन्होंने कहा, "मठ में आना, वहाँ महाराज[1] हैं।

दो या तीन दिनों बाद श्रीरामकृष्ण के जन्म-दिवस पर मैं अपने एक अन्य युवा मित्र के साथ दक्षिणेश्वर गया और वहाँ के काली-मन्दिर तथा ठाकुर के कमरे में कई घण्टे बिताए। फिर कुछ दूसरे भक्तों के सात नाव में बैठकर हम बेलूड़ मठ पहुँचे। नाव से उतरते ही हमारी स्वामी तुरीयानन्दजी से भेंट हुई। वे बोले, "महाराज हैं, जाकर उनसे मिलो।"

मठ के प्रमुख भवन के निकट पहुचने पर हमें पता चला कि महाराज मन्दिर में हैं, अत: हम वहीं चले गये। वहाँ हमने जो कुछ देखा, वह वस्तुत: हमारे जीवन का एक अविस्मरणीय दृश्य था। ठाकुरजी की पूजा समाप्त हो रही थी और महाराज विग्रह को चँवर डुलाकर हवा कर रहे थे। उनकी आँखें एक अलौकिक आनन्द से दमक रही थीं। हम लोग मंत्रमुग्ध से देखते रहे। थोड़ी देर बाद वे नीचे आहाते में उतर आये, हमने भी जाकर उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने सभी उपस्थित लोगों को आशीर्वाद दिया। तदुपरान्त हम उनके साथ भोजन करने को बैठे। स्वामी प्रेमानन्द, स्वामी तुरीयानन्द तथा अन्य संन्यासीगण उनकी बगल में बैठे थे।

कुछ दिनों बाद श्रीरामकृष्ण के जन्मोत्सव के निमित्त एक सार्वजनिक समारोह हुआ। उस दिन मैं बड़े तड़के ही उठकर महाराज का दर्शन करने गया। उस दिन उनसे दूर रह पाना मेरे लिए असम्भव-सा हो उठा था। प्रणाम करने पर उन्होंने कुछ स्नेहपूर्ण शब्द कहे। आज जब मैं अपने उस दिन के व्यवहार का स्मरण करता हूँ, तो मन-ही-मन हँस पड़ता हूँ। उस दिन भक्तों की कोई भी नई टोली आने पर मैं उनके साथ पुन: पुन: महाराज को प्रणाम करने जाता और हर बार वे मेरी ओर देखकर कृपापूर्वक मुस्करा देते। ऐसा घण्टों तक चला था। तब तक भजन गाने के लिए कुछ निपुण गायक-वादक आ पहुँचे। सभी लोग महाराज को घेरकर बैठ गये। भजन के समय महाराज एक दिव्य भाव में डूब गये थे।

इसके बाद एक विकट रोग के चलते मुझे एक वर्ष से भी अधिक काल तक बाहर रहना पड़ा था। विशेष चिकित्सा हेतु इलाहाबाद के लिए प्रस्थान करने के पूर्व मैं महाराज से मिलने बलराम बोस के मकान पर गया। उन्होंने थोड़ी देर तक मेरे साथ बातचीत की और कहा कि अपने इलाहाबाद निवास के दौरान मैं स्वामी विज्ञानानन्दजी से मिलूँ। तदुपरान्त उन्होंने एक वरिष्ठ संन्यासी से कहकर मेरे घर जाने की व्यवस्था करा दी।

इलाहाबाद जाकर मेरे स्वास्थ्य में थोड़ा सुधार हुआ, इसके बाद मैं प्राय: प्रतिदिन स्वामी विज्ञानानन्दजी के पास जाया करता था। फिर मेरे कलकत्ता लौटने के समय स्वामी विज्ञानानन्दजी ने कहा, "जाकर महाराज से कहना कि मेरे अन्दर आध्यात्मिक शक्ति जाग्रत कर दीजिए।" मैंने पूछा, "आप ही क्यों नहीं कर देते?" वे हँसने लगे और बोले, "नहीं, तुम महाराज के पास जाओ। वे आध्यात्मिकता के एक Power-house (शक्ति-केन्द्र) है। उनकी अनुभूतियों का कोई ओर-छोर नहीं है।"

कलकत्ता लौटते ही मैं बेलूड़ मठ गया। इस बार मेरी भेंट सबसे पहले स्वामी प्रेमानन्दजी से ही हुई। मैंने उनसे वहाँ रात में ठहरने की अनुमति माँगी। वे मुझे तुरन्त स्वामी ब्रह्मानन्दजी के पास ले गये, जो गंगा की ओर मुख किये एकाकी बैठे थे। जब मैं महाराज को प्रणाम कर रहा था, तभी प्रेमानन्दजी ने उन्हें बताया कि मैं रात में यहीं ठहरना चाहता हूँ। महाराज ने तुरन्त अनुमति दे दी। स्नेहमयी जननी के समान स्वामी प्रेमानन्दजी ने मेरी वहाँ रहने की सारी व्यवस्था कर दी। मुझे वरिष्ठ संन्यासियों के साथ उन्हीं लोगों के कमरे में ठहरने की अनुमति मिल गयी।

अगला दिन मेरे जीवन का एक अविस्मरणीय दिन था। प्रात: जब मैंने महाराज को स्वामी विज्ञानानन्दजी के साथ हुई अपने अन्तिम वार्तालाप की बात कही, तो वे बोले, "तुमने स्वामी विज्ञानानन्द को ही अपने अन्दर वह शक्ति जगा देने को क्यों नहीं कहा?"

मैं बोला, "मैंने उनसे कहा था।"

तदुपरान्त मैंने स्वामी विज्ञानानन्दजी की उनके बारे में कही हुई उक्ति दुहरा दी। सुनकर महाराज बड़े गम्भीर हो उठे

१. स्वामी ब्रह्मानन्द

और थोड़ी देर मौन बैठे रहे। अन्त में उन्होंने कहा, "आध्यात्मिक शक्ति के जागरण के लिए थोड़ी तैयारी की आवश्यकता होती है। तुम्हें दीक्षा लेनी होगी।" मैं तत्काल बोला, "महाराज, मेरे लिए जो भी आवश्यक हो, कर दीजिए।" उन्होंने बड़ी कृपापूर्वक मुझे कुछ समुचित निर्देश दिये और आगे के लिए निर्देश प्राप्त करने के लिये कुछ महीनों बाद एक बार फिर मिलने को कहा।

जब निर्धारित समय आया, उस समय महाराज वाराणसी में थे, अत: उनका दर्शन करने मैं वहीं गया। सुबह चार बजे के थोड़े ही बाद मैं आश्रम पहुँचा। बड़े विस्मय की बात यह है कि मैं ज्योंही महाराज के कमरे के पास पहुँचा, त्योंही उन्होंने और उनके सचिव स्वामी शंकरानन्दजी ने प्राय: एक साथ ही अपने द्वार खोले। महाराज बड़े ही कृपालु रहे। इस बार उन्होंने मुझे आगे के लिए निर्देश दिये और आश्वासन तथा प्रोत्साहन भी प्रदान किया।

एक दिन महाराज ने काशी के आध्यात्मिक परिवेश के बारे में बताया। उसी प्रसंग में उन्होंने श्रीरामकृष्ण की उक्ति का उल्लेख किया। उन्होंने अपने शिष्यों को बताया था कि काशी में देहत्याग करनेवालों की मुक्ति हो जाती है। एक अन्य समय उन्होंने कहा था कि वाराणासी के अद्भुत आध्यात्मिक परिवेश के कारण, वहाँ यदि कोई थोड़ी-सी भी साधना करे, तो उसे आसानी से उच्च आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्राप्त हो सकती हैं। एक दूसरे समय उन्होंने बताया था कि विभिन्न तीर्थस्थानों में दिन के भिन्न-भिन्न कालों में आध्यात्मिक प्रवाह की अनुभूति होती है। यदि कोई इसे समझकर उक्त प्रवाह के समय साधना कर सके, तो उसका मन सहज ही एकाग्र हो जाता है।

वहाँ कुछ दिन रहकर ही मैं कलकत्ते लौट आया। इसके कुछ महीनों बाद ही मैं पुन: वाराणसी में ही महाराज से मिलने गया। दुर्गापूजा के दिन थे। इस बार भी उन्होंने बड़ा स्नेह प्रकट किया और खूब उत्साहित किया।

कुछ महीनों बाद मैं अपने कॉलेज की प्रवेशिका परीक्षा के पूर्व कलकत्ता लौट आया। उन दिनों प्रतिदिन अपराह्न में मैं महाराज का दर्शन करने मठ जाया करता था। अन्य समय जाने पर भय था कि कुछ लोग मेरे इस आवागमन की बात जान लेने पर, मेरे लिए समस्या खड़ी कर सकते हैं। एक दिन महाराज ने कुछ व्यक्तिगत निर्देश लेने के लिए अगले दिन आने को कहा। एक मिनट तक मैं पशोपेश में पड़ा रहा। पर उन्होंने मुस्कराते हुए कहा, "आना, सब ठीक हो जाएगा।" मैं भी हँस पड़ा। मैं समझ गया था कि वे मेरे छिपकर आने की बात जानते हैं। स्पष्ट था कि उन्हें सब कुछ ज्ञात है और विस्मय की बात तो यह है कि उस दिन से वह सारी समस्या भी समाप्त हो गयी। अज्ञात रूप से महाराज ने मेरे मार्ग की सारी बाधाएँ दूर कर दी थीं।

अपनी दीक्षा होने के पूर्व मैं प्राय: ही महाराज के दर्शन करने जाया करता था। एक दिन वे मठ के बरामदे में मौन बैठे थे, कि स्वामी प्रेमानन्दजी आकर उनसे बोले, "क्यों इस बालक को आप बार-बार यहाँ आने को मजबूर करते हैं।" महाराज ने पहले मेरी ओर, फिर उनकी ओर देखा और मुस्कुराते हुए कहने लगे, "तुम कहते क्या हो ! मैं उसे मठ में आने को मजबूर करता हूँ ! उसकी जैसी इच्छा हो, यहाँ आये-जाये। यह उसी की जगह है।" इस पर दोनों ही एक बड़ी मोहक हँसी हँसने लगे। मैं भी बड़ा हर्षित हुआ।

एक अन्य दिन महाराज ने मुझे कहा था कि कॉलेज की पढ़ाई समाप्त हो जाने पर मैं संघ में प्रवेश ले सकता हूँ।

आखिरकार महाराज ने मेरी दीक्षा के लिए एक दिन नियत कर दिया। श्रीरामकृष्ण की जन्मतिथि के दिन मेरी दीक्षा होनेवाली थी। उस दिन बड़े सबेरे ही मैं पुष्प तथा अन्य सामग्री लेकर कॉलेज के छात्रावास से चलकर बेलूड़ मठ जा पहुँचा और सारी चीजें महाराज के कमरे में रख दीं। उन्होंने मुझे गंगा में स्नान करके मन्दिर में आने का आदेश दिया। मैं स्नान करने को चला पर शीघ्र ही उन्होंने एक युवा संन्यासी को मुझे बुला लाने भेजा, क्योंकि वे मन्दिर में जा चुके थे। मैं दौड़ता हुआ आ पहुँचा। मेरी दृष्टि जब महाराज पर पड़ी, तो मुझे उनका वही भव्य व्यक्तित्व दीख पड़ा, जो प्रथम भेंट के समय दिखा था। वे मुख्य मन्दिर के बरामदे में टहलते हुए मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। मुझे देखते ही उन्होंने कहा – "आओ, बेटा !" मैं आनन्दविभोर उनके पीछे हो लिया। हमारे अन्दर प्रवेश करते ही मन्दिर का द्वार बन्द कर दिया गया और वहाँ मात्र हम दोनों ही रह गये। दीक्षा के बाद दक्षिणा देनी पड़ती है, पर मैं एक अबोध बालक था और यह बात जानता न था। मन्दिर के बाहर आने के बाद महाराज ने अपने चरणों में अर्पित करने के लिए मेरे हाथ में एक छोटा-सा पुष्प दे दिया।

मन्दिर में विशेष पूजा हो जाने के बाद महाराज, स्वामी प्रेमानन्द तथा अन्य वरिष्ठ संन्यासियों के साथ बैठकर हम लोगों ने प्रसाद ग्रहण किया। कई सौ लोग आये हुए थे। अपराह्न में महाराज ने मुझे छात्रावास लौट जाने को कहा, ताकि मैं ज्यादा थक न जाऊँ।

१९१६ से १९१९ ई. के दौरान महाराज ने अधिकांशत: बेलूड़ मठ तथा कलकत्ते में ही निवास किया था। मेरी ही आयु के अनेक युवक उनके इर्द-गिर्द एकत्र हो गये थे, जो प्राय: ही उनसे मिलने आया करते। धीरे-धीरे हम लोगों की एक टोली गढ़ उठी और हम परस्पर घनिष्ठ मित्र बन गये।

जब महाराज कलकत्ते में होते, तो मैं दोपहर को या तीसरे पहर उनसे मिलने जाया करता। इसी प्रकार दिन बीतते रहे।

एक शुभ दिन जब मैं मठ में पहुँचा तो महाराज को अन्य संन्यासी एवं भक्तों के साथ भोजन करते देख मैं उनकी सेवा में लग गया। मैं उनके लिए पंखा डुलाता रहा और स्वयं भोजन के लिए नहीं बैठा। उस समय दूसरों के सामने तो उन्होंने कुछ भी नहीं कहा, परन्तु बाद में मातृसुलभ स्नेह के साथ उन्होंने पूछा, "तुमने भोजन क्यों नहीं किया? तुम्हारे साथ यही तो मुश्किल है!" मै उनकी उस समय की स्नेहमय एवं खेदयुक्त मुखमुद्रा कभी न भूल सकूँगा। उन्हें मेरे स्वास्थ्य की बड़ी चिन्ता थी।... मेरे छात्रावास के दिनों में महाराज मुझे प्राय: ही बाजार से अच्छा घी-मक्खन खरीदकर सेवन करने को कहते। वे निरन्तर मेरी मंगल-कामना करते। उनका स्नेह मैं कितनी तीव्रतापूर्वक अनुभव करता था, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

युवा संन्यासी तथा भक्तगण संध्या को ध्यान करने के बाद महाराज के पास एकत्र हुआ करते थे। कभी वहाँ भजन होते, तो कभी गहन नीरवता छायी रहती। उस समय हम सभी वहाँ बैठकर ध्यान करते। वह हमारे जीवन का एक अविस्मरणीय काल था। तब बिना किसी के कोई प्रश्न किये महाराज शायद ही कुछ बोलते। यदि हमें अपनी साधना के बारे में किन्हीं निर्देशों की जरूरत होती, तो हम बड़े सबेरे या दोपहर को उनसे मिलने जाते। हम जब उनके प्रति एक अद्भुत आकर्षण का अनुभव करते, मानो हमारा सारा अस्तित्व ही किसी उच्च महिमामय वस्तु की ओर खिंचा जा रहा हो।

जब कभी मैं एक-दो दिन बाद महाराज के पास जाता, तो वे कहते, "क्या बात है, आजकल तुम दिखाई ही नहीं देते!" यदि मैं उत्तर देता, "क्यों महाराज, मैं परसों ही तो आया था।" तो वे कहते, "ओह, तुम और तुम्हारा परसों!"

एक दिन महाराज एक भक्त के घर[२] जा रहे थे। मैं महाराज के दो अन्य शिष्यों[३] के साथ वहाँ उनसे मिलने को गया। जब हम लोग महाराज के सान्निध्य में बैठे हुए थे, तो एक युवा संन्यासी आकर उन भक्त के बारे में पूछने लगे, जो हमारे कालेज के छात्रावास में कुछ गड़बड़ी पैदा कर रहे थे। विश्वविद्यालय से सहायता लेकर वह छात्रावास प्रारम्भ करने में मेरा प्रमुख हाथ था।

महाराज ने पूछा, "क्या बात है? वहाँ क्या घटना हुई?"

मैंने संक्षेप में सारी वस्तुस्थिति कह सुनायी।

वे बोले, "उस व्यक्ति के साथ मिलकर छात्रावास की स्थापना करते समय तुमने यह बात मुझे क्यों नहीं बतायी?"

२. रामकृष्णपुर (हावड़ा) में स्वामी अम्बिकानन्द के पूर्वाश्रम का घर

३. बाद में स्वामी विविदिषानन्द और स्वामी तेजसानन्द

मैंने उत्तर दिया, "महाराज मैंने सोचा कि वे एक भक्त हैं, अत: कोई समस्या न होगी।"

महाराज बोले, "अरे, मैंने ऐसे कितने ही भक्त देखे हैं!"

तत्पश्चात् महाराज करीब एक घण्टा हमारे समक्ष मानवीय सम्बन्धों तथा क्रियाकलापों पर बोलते रहे। उन्होने कहा, "वत्स, तुम किसी की चाहे कितनी भी मदद करो, पर यदि उसे तुम्हारी एक भी चीज नापसन्द हो, तो वह उसी को याद रखेगा और तुम्हारी सारी भलाई की बातें भूल जाएगा। वह सर्वत्र तुम्हारी निन्दा करता फिरेगा। यह संसार ही ऐसा है! विद्यासागर महाशय बिना किसी भेदभाव या सोच-विचार के सबकी सहायता करते थे। पर अन्त में जिन लोगों ने उनकी सेवा तथा कृपा प्राप्त की, वे ही उनके निन्दक हो गये। इस पर भी वे उन्हीं लोगों की पुन: पुन: सहायता करते रहते थे। उनके जीवन के अन्तिम काल में यदि कोई आकर उन्हें सूचित करता कि अमुक सज्जन आपकी आलोचना कर रहे थे, तो वे क्षण भर सोचकर कहते 'क्यों? क्या मैंने कभी उनकी कोई भलाई की है, जो वे मेरा अनिष्ट चाहते हैं?' इस उदाहरण से तुम सामान्य लोगों का स्वभाव समझ सकते हो। परन्तु साधु-पुरुष अपना स्वभाव नहीं छोड़ते।" तदुपरान्त उन्होंने एक कहानी बतायी।

एक महात्मा एक नदी के तट पर बैठकर ध्यान कर रहे थे। सहसा उन्होंने देखा कि एक बिच्छू नदी के प्रवाह में पड़ा बहा जा रहा है और जल से अपनी प्राणरक्षा के हेतु संघर्ष भी किए जा रहा है। महात्मा उसे उठाकर किनारे पर लाने लगे कि बिच्छू ने उन्हें डंक मार दिया। थोड़ी देर बाद वह बिच्छू पुन: नदी में गिर पड़ा। महात्मा ने उसे पुन: पानी से उबारा और बिच्छू ने फिर उन्हें डंक मारा। वे पीड़ा से छटपटाने लगे। कुछ देर बाद उन्होंने देखा कि बिच्छू पुन: पानी में डूब रहा है। वे दुविधा में पड़ गये कि क्या करें! फिर उन्होंने मन-ही-मन सोचा, "बिच्छू का स्वभाव है डंक मारना और साधु का स्वभाव है पीड़ित जीवों की सेवा करना।" अत: उन्होंने बिच्छू को फिर उठा लिया, उसने उन्हें फिर डंक मारा, परन्तु इस बार वे उसे नदी से काफी दूरी पर छोड़ आये, ताकि वह फिर से पानी में न गिर पड़े।

इस कहानी के माध्यम से महाराज ने सदा-सर्वदा के लिए मेरे मन में यह बात अंकित कर दी कि साधु का सच्चा भाव तथा स्वभाव क्या होना चाहिए। वे मुझे भविष्य के लिए शिक्षा दे रहे थे, कि अन्तर्मानवीय परिस्थितियों में मुझे कैसा व्यवहार करना चाहिए।

अभी मेरी स्नातक की पढ़ाई चल ही रही थी कि महाराज ने ठीक कर दिया कि मठ में प्रवेश लेने के बाद मुझे मद्रास जाना होगा। उन्होंने कहा, "इस निर्णय की बात अभी किसी पर प्रकट न करना।" फिर बोले, "मैं तुम्हें वहाँ इसलिए

भेज रहा हूँ कि वहाँ तुम्हारी ही उमर के अवनी[४] आदि कई लड़के हैं। तुम लोगों के बीच अच्छी मित्रता हो जाएगी।''

संघ में प्रविष्ट होने के बाद जब मैं भुवनेश्वर में महाराज के पास रहने गया, तो वहाँ वे मेरे प्रति बड़े ही कृपालु एवं उदार रहे। सुबह शाम वे मुझे अपने साथ टहलने ले जाते। बहुधा हमारे बीच कोई बात नहीं होती, मैं चुपचाप उनका अनुसरण करता। एक दिन उन्होंने मुझे वाराणसी के सेवाश्रम का इतिहास बताया कि किस प्रकार वह संस्था चन्द पैसों से प्रारम्भ होकर अब विशाल आकार धारण कर चुकी है और रोगियों, पीड़ितों तथा वृद्धों की सेवा में लगी हुई है।

भुवनेश्वर निवास काल में कभी-कभी मैं महाराज के लिए भोजन पकाता था। वे विनोदपूर्वक कहते, ''यहीं रहकर खाना पकाते रहना।'' परन्तु यह बात सदा उनके मन में बनी रहती कि मुझे मद्रास भेजना है। एक दिन जब मैं बरामदे में महाराज के सामने खड़ा था, तो वे एक वयस्क भक्त से कहने लगे, ''मैं इस लड़के को मद्रास इसलिए भेज रहा हूँ, ताकि वह अंग्रेजी बोलना सीख जाए।'' सच पूछो तो मैंने कभी सपने में भी नहीं सोचा था कि मुझे अमेरिका में कार्य करना होगा। उसी समय कलकत्ते से एक संन्यासी का पत्र आया कि संघ के महासचिव स्वामी सारदानन्दजी की इच्छा है कि तुम कलकत्ते आकर एक विद्यालय प्रारम्भ करो। एक धनाढ्य सज्जन ने इस योजना के लिए आर्थिक सहायता देने का प्रस्ताव रखा था और संघ में प्रवेश लेने के पूर्व अपने विद्यार्थी जीवन में मैं इस प्रस्ताव से जुड़ा था। वह पत्र आते ही महाराज ने उसी रात मुझे मद्रास भेजने का निश्चय किया। उनके साथ रहकर उनकी सेवा करने की मेरी इच्छा जानकर महाराज ने कहा, ''क्या तुम सोचते हो कि जो लड़के मुझसे दूर रहकर ठाकुर का कार्य कर रहे हैं, वे मेरी सेवा नहीं कर रहे हैं?'' मैं उनके इन शब्दों पर मौन रह गया।

बलराम बोस के पुत्र तथा महान भक्त रामबाबू ने महाराज के पास जाकर मुझे कुछ दिन और रख लेने का आग्रह किया, ताकि मैं महाराज तथा उनकी टोली के साथ पुरी जा सकूँ। महाराज ने कहा, ''नहीं राम, मैं उसे अविलम्ब मद्रास भेजना चाहता हूँ।'' प्रस्थान करने के पूर्व मैंने महाराज से पूछा कि क्या निकट भविष्य में उनके मद्रास आने की सम्भावना है? उन्होंने हामी भरी। मैंने यह भी पूछा कि अवतारों तथा महापुरुषों के बारे में आने वाले स्वप्न क्या सत्य होते हैं? उन्होंने कहा, ''हाँ, ऐसी अनुभूतियाँ वास्तव में सत्य हैं।'' तत्पश्चात् मैं मद्रास के लिए रवाना हुआ।

महाराज का मद्रास में आगमन हुआ। वहाँ एक दिन उन्होंने मुझे अपने साथ टहलने चलने को कहा। रास्ते में हम लोग एक वृक्ष के नीचे ठहर गये और उन्होंने वहाँ करीब दो घण्टे तक मेरे साथ वार्तालाप किया। उन्होंने बताया कि यदि लोग अविवेकी हो और हमें हानि पहुँचाने का प्रयास करें, तो हमें उनके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए।

हमारे एक केन्द्र के कुछ लड़कों ने कुछ गड़बड़ी की थी, और इस पर कुछ वरिष्ठ संन्यासियों ने महाराज से सिफारिश की थी कि उन्हें मठ से निष्कासित कर दिया जाए। उन्हें यह सूचित किया गया था कि ये लड़के अपने स्वभाव तथा संस्कारों के कारण मठ में रहने के उपयुक्त नहीं हैं। परन्तु महाराज बोले, ''देखो, सन्त-महात्माओं के साथ तो कोई भी रह सकता है, परन्तु मानवीय दुर्बलताओं के प्रति सहानुभूति जताने तथा सामान्य लोगों की सहायता करने के लिए एक विशेष गुण की आवश्यकता होती हैं।'' मुझे ज्ञात है कि महाराज ने उन लड़कों के प्रति कितने स्नेह तथा क्षमा का भाव व्यक्त किया था और इस प्रकार उन लोगों का जीवन रूपान्तरित हो गया था। उन्होंने कहा, ''यदि मैं कम्बल से चुन-चुनकर रोएँ निकालने लगूँ, तो फिर बचेगा ही क्या?''

अपने अतीत जीवन का सिंहावलोकन करने पर मुझे ऐसा लगता है कि महाराज को मेरा सारा भविष्य ज्ञात था और उन्होंने उसी के अनुसार मुझे व्यक्तियों एवं समस्याओं के बीच कैसे व्यवहार करना – इस विषय में निर्देश दिए थे। उन्होंने कहा था, ''देखो, श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, 'सहो, सहो सहो। जो सहता है, सो रहता है; जो नहीं सहता, वह बरबाद हो जाता है'।'' फिर उन्होंने यह भी कहा, ''सत्य बोलना, परन्तु सदा प्रिय सत्य ही बोलना, कटु सत्य कदापि न बोलना।'' इन दो महत्त्वपूर्ण निर्देशों ने अनेक नाजुक अवसरों पर मेरी सहायता की और भारत तथा अमेरिका के मेरे विनम्र जीवन की कई समस्याओं का निराकरण किया है।

एक दिन मैं महाराज के कमरे में जाकर उनके अत्यन्त समीप बैठ गया। वे मेरे उन दिनों के बारे में कहने लगे, जब मैं अपनी बीमारी के समय कलकत्ते में पहली बार उनसे मिलने को आया था। मुझे यह जानकर बड़ा ही विस्मय हुआ कि मैं उस दिन उनके लिए जो छोटा-मोटा उपहार लाया था, उसकी भी उन्हें स्पष्ट स्मृति थी।

१९२१ ई. में मद्रास में मेरी संन्यास की दीक्षा हुई, जो मेरे जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक है। एक दिन मैं उनके कमरे में जाकर चुपचाप बैठा था।

उन्होंने पूछा, ''क्यों जी, तुम्हारा संन्यास अभी तक नहीं हुआ?''

मैंने मुस्कुराते हुए कहा – ''नहीं, महाराज।''

इस पर वे बोले – ''ठीक है, सारी व्यवस्था कर लो। स्वामी शिवानन्द और स्वामी शर्वानन्द से भी कह दो।''

४. बाद में स्वामी प्रभवानन्द

मेरी खुशी का ठिकाना न था। दिन में ही सारी प्रारम्भिक तैयारियाँ तथा अनुष्ठान सम्पन्न हुए और अगले दिन बड़े सबेरे स्वामी प्रभवानन्द और मैं संन्यास-व्रत में दीक्षित हो गये।

फिर जिस दिन महाराज ने मद्रास के रामकृष्ण मिशन विद्यार्थी भवन का उद्घाटन किया, उस दिन और भी एक स्मरणीय घटना हुई। महाराज ने बड़े स्नेह तथा अनुग्रहपूर्वक मुझे पूजा के लिए आवश्यक तैयारी करने को भेजा। फिर उन्हें शोभायात्रा में मठ के अन्य संन्यासी एवं भक्तों के साथ नवनिर्मित शिक्षा संस्थान तक ले जाये गये। वहाँ लगभग चार-पाँच सौ लोग उपस्थित थे। शोभायात्रा जब भवन की ओर जा रही थी, तो उसके कुछ सौ गज पूर्व ही मैं महाराज की ओर बढ़ा। उनके समीप पहुँचते ही मुझे एक अवर्णनीय अनुभूति हुई। विस्मय की बात तो यह है कि वहाँ उपस्थित सभी लोगों को एक असाधारण-सी अनुभूति हुई, मानो उन्हें चेतना के एक उच्चतर स्तर में उन्नीत कर दिया गया हो। अगले दिन प्रात:काल स्वामी शिवानन्दजी को प्रणाम करते समय जब मैंने उनके समक्ष यह प्रसंग उठाया, तो उन्होंने कहा, "हाँ, महाराज में एक साथ ही अनेक लोगों को उच्च भाव में उन्नीत कर देने की क्षमता हैं।"

महाराज की उपस्थिति काल में ही मद्रास मठ में दुर्गापूजा का अनुष्ठान होने पर भी कुछ ऐसी ही घटना हुई थी, वे कुछ दिन मेरे स्मृतिपटल पर सदा-सर्वदा के लिए अंकित हो गये हैं। पूजा के अन्तिम दिन सभी उपस्थित लोगों को एक अनिर्वचनीय आनन्द तथा उदात्त अवस्था का बोध हुआ था।

मेरे मद्रास के दिनों में वहाँ एक अंग्रेज महिला आयी थीं, जो एक मानसिक विक्षोभ के दौर से गुजर रही थीं। मेरी सलाह पर वे कलकत्ते जाकर महाराज से मिलीं। बाद में श्रीलंका लौटते समय जब वे मद्रास में ठहरीं, तो उनसे उनके वहाँ के अनुभव सुनने को मिले। अपनी अशान्त मन:स्थिति में जाकर महाराज को प्रणाम करने पर उन्होंने जब इनको आशीर्वाद दिया, तभी इन्हें एक उच्च आध्यात्मिक अनुभूति हुई, जिसके फलस्वरूप इनका सारा कष्ट जाता रहा और मन एक सहज आनन्द एवं शान्ति से परिपूर्ण हो उठा था। उनके जीवन में आमूल-चूल परिर्वतन आ गया था।

❑❑❑

कृपणता छोड़ें, उदारता अपनायें

पुरुषोत्तम नेमा

अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण के समक्ष स्वीकार किया कि वह कार्पण्य-दोष से युक्त हो रहा है, अर्थात् शक्ति-सामर्थ्य तो है, पर लड़ नहीं सकता।

व्यक्ति में कुछ करने की सामर्थ्य हो और वह किसी कारण से उसे करने में असमर्थता का बोध कर रहा हो, तो इसे 'कार्पण्य' कहते हैं।

सामान्य अर्थ में इसे कंजूसी कह देते हैं, जो केवल द्रव्य (धन) से सम्बन्धित है अर्थात् पैसे का अपरिमित मोह – किसी भी दशा में पैसा, अपने पास से दूर न हो – क्योंकि उससे अपने संग्रह में कमी आ जायेगी, अतएव पैसे को दाँत से पकड़ कर रखना, आवश्यकता पड़ने पर भी पैसे का त्याग न कर सकना, यह कंजूसी का सीमित अर्थ है। मितव्ययी और कंजूस में फर्क है।

कार्पण्य का क्षेत्र व्यापक है अर्थात् धन की परिधि से हटकर है, उदाहरणार्थ – यदि आप खेल सकते हैं पर नहीं खेलते, गा सकते हैं पर नहीं गाते, सहायता कर सकते हैं पर नहीं करते, और तो और, जानते हुए भी पूछने पर उत्तर नहीं देते तो यह कार्पण्य है।

इसके विपरीत है औदार्य – उदारता।

सामर्थ्यानुसार करना और देना तो ठीक, कभी-कभी सामर्थ्य के परे भी कर देना, औदार्य है।

कुछ लोग निषेधात्मक गुणों में (यदि उन्हें उदारतापूर्वक गुणों में परिगणित कर लें), बड़ी उदारता बरतते हैं, जैसे किसी की गलती निकालना, छिद्रान्वेषी लोग बड़ी उदारता से तिल का ताड़ बनाया करते हैं। निन्दा-कर्मी लोगों में यह औदार्य कूट-कूट कर भरा होता है। प्रसंग ढूँढ़कर या बनाकर, बातचीत का रुख, अपनी रुचि के अनुकूल, निन्दा का निर्मित कर, शुरु हो जाते हैं और जी भरकर, जब तक तृप्त नहीं हो जाते, निन्दित या तथाकथित निन्दित का कचूमर निकालकर रख देते हैं। वर्तमान में जो विरोध करने में पुतला-दहन की प्रक्रिया है, वह इसी निषिद्ध उदारता के अन्तर्गत आती है।

तो प्रिय पाठकवृन्द ! आपमें भरपूर सामर्थ्य है, इसे पहचानें और उसका समयानुसार सदुपयोग करें। कार्पण्य को त्यागें, क्योंकि सामर्थ्य के सदुपयोग से आपके तेज, बुद्धि श्री आदि की वृद्धि ही होगी, लोकप्रियता ब्याज में मिलेगी।

इसलिये अपने निषेद्धात्मक औदार्य का परित्याग करें और सहज ही श्रेय के भागी बनें। चाहने से क्या नहीं होता !

❑❑❑

स्वामी शुद्धानन्द (२)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

एक अन्य दिन उन्होंने स्वामीजी का दर्शन करने जाकर देखा कि वे सिंह के समान इधर से उधर टहलते हुए श्रीयुत शरत्चन्द्र चक्रवर्ती के साथ विभिन्न विषयों पर बातें कर रहे हैं। सुधीर के मन में एक प्रश्न उठा, परन्तु आगे बढ़कर उसे पूछने का उन्हें साहस नहीं हो रहा था। प्रश्न था – "अवतार और मुक्त या सिद्ध पुरुष में क्या अन्तर है?" सुधीर ने शरत् बाबू के माध्यम से यह प्रश्न उठवाया और स्वयं उनके पीछे रहकर स्वामीजी का उत्तर सुनने को उत्सुक थे। उनके इस प्रश्न के उत्तर में उस दिन स्वामीजी ने जो कुछ कहा था, वह सुधीर के मानस-पटल पर चिरकाल के लिये अंकित हो गया था। स्वामीजी ने उस प्रश्न का सीधे-सीधे कोई उत्तर दिये बिना ही कहा था, "विदेह-मुक्ति ही सर्वोच्च अवस्था है – यही मेरा सिद्धान्त है। साधनावस्था में जब मैं भारत के विभिन्न स्थानों का भ्रमण कर रहा था, उस समय मैंने निर्जन गुफाओं में अकेले बैठकर न जाने कितना समय बिताया; यह सोचकर कि अभी तक मुक्ति नहीं हुई, कितने ही बार उपवास करके देहत्याग देने का भी संकल्प किया; कितना ध्यान, कितना साधन-भजन किया! परन्तु मुक्ति पाने के लिये अब वह 'विजातीय' आग्रह नहीं रहा। अब तो मन में केवल यही आता है कि जब तक पृथ्वी पर एक व्यक्ति भी अमुक्त है, तब तक अपनी मुक्ति की मुझे कोई जरूरत नहीं!" स्वामीजी अपने हृदय के सम्पूर्ण आवेग के साथ ये बातें कह रहे थे। ऐसी करुणापूर्ण बातें कहना क्या मनुष्य के लिये सम्भव है? सुधीर विस्मयपूर्वक सोचने लगे – "क्या इन्होंने अपना स्वयं का दृष्टान्त देकर अवतार पुरुषों का लक्षण समझाया है? क्या ये भी एक अवतार हैं?"

अस्तु। आना-जाना तथा मिलना-जुलना क्रमश: बढ़ता गया और हृदय का आकर्षण भी तीव्र से तीव्रतर होता गया। सुधीर एक बार फिर संध्या के बाद मित्र खगेन के साथ गोपाल लाल शील के उद्यान-भवन में जा पहुँचे। श्रीरामकृष्ण के भक्त हरमोहन बाबू ने इन दोनों युवकों का स्वामीजी के साथ विशेष रूप से परिचय कराते हुए कहा, "स्वामीजी, ये दोनों आपके बड़े admirers (प्रशंसक) हैं और वेदान्त पर खूब चर्चा भी करते हैं।" वेदान्त की बात उठते ही स्वामीजी तत्काल बोल उठे, "उपनिषद् कुछ पढ़ा है?" सुधीर ने डरते-डरते उत्तर दिया, "जी हाँ, थोड़ा-बहुत देखा है।" स्वामीजी ने पूछा, "कौन-सा उपनिषद् पढ़ा है?" सुधीर आगा-पीछा करते हुए बोले, "कठोपनिषद् पढ़ा है।" स्वामीजी सहसा उत्फुल्ल होकर कह उठे, "अच्छा, तो वही सुनाओ; कठोपनिषद् खूब शानदार है – कवित्व से परिपूर्ण है।"

सुधीर बड़ी मुसीबत में पड़े। यद्यपि उस समय उन्हें पूरी गीता कण्ठस्थ थी, परन्तु उपनिषद् ठीक से कण्ठस्थ न थे। उन्होंने बड़े विनयपूर्वक कहा – "कठ तो कण्ठस्थ नहीं है – गीता से कुछ सुनाता हूँ।" स्वामीजी बोले, "अच्छा, वही सुनाओ।" तब उन्होंने गीता के ग्यारहवें अध्याय के अन्तिम भाग से – "स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या" से शुरू करके अर्जुन द्वारा की गयी पूरी स्तुति की शुद्ध रूप से आवृत्ति करके स्वामीजी को सुना दिया। स्वामीजी खूब प्रसन्न होकर बोले, "बहुत अच्छा, बहुत अच्छा!"

इसके ठीक अगले दिन सुधीर अपने बाल्यबन्धु राजेन्द्रनाथ घोष[३] को साथ लेकर पुन: स्वामीजी के दर्शनार्थ गये। उस दिन वे प्रसन्नकुमार शास्त्री की उपनिषद्-ग्रन्थावली का एक गुटका संस्करण जेब में ले गये थे – इस आशंका से कि स्वामीजी कहीं आज भी उपनिषद् से आवृत्ति करने को न कह बैठें। उस दिन स्वामीजी का कमरा लोगों से भरा हुआ था; और उन्हें जो आशंका थी, वही हुआ। घूम-फिरकर फिर उसी कठोपनिषद् का प्रसंग उठा। सुधीर ने जेब से छोटी पुस्तिका निकाली और उसे शुरू से पढ़ने लगे। मूर्तिमान उपनिषद् के समक्ष बैठकर सुधीर विद्युत्-चालित यंत्र के समान पाठ करते रहे। स्वामीजी बीच-बीच में अपने स्वभाव-सिद्ध ओजस्वी भाव से उपनिषद् में कथित मंत्रों की अद्भुत व्याख्या करते हुए वहाँ उपस्थित सभी के भीतर मानो ब्रह्मतेज का संचार करने लगे। सुधीर की अपनी भाषा में – "इन दो दिनों की उपनिषद्-चर्चा में स्वामीजी की उपनिषदों के प्रति श्रद्धा और अनुराग का कुछ अंश मेरे हृदय में भी संचरित हो गया।" स्वामीजी द्वारा इस प्रकार अनुप्राणित होने के बाद सुधीर की उपनिषद्-प्रीति आजीवन बनी रही – स्वामीजी ने उपनिषद् को

३. वेदान्त के सुप्रसिद्ध विद्वान्। परवर्ती काल में उन्होंने रामकृष्ण संघ में प्रवेश लेकर स्वामी विरजानन्द जी से संन्यास-दीक्षा ली और स्वामी चिद्घनानन्द पुरी के नाम से परिचित हुए। किशोरावस्था में सुधीर जब एक बार घर छोड़कर काशीधाम चले गये थे, तब ये राजेन्द्रनाथ भी उनके संगी थे।

मानो उनके रक्त-प्रवाह के साथ मिश्रित कर दिया था। इसीलिये स्वामीजी की गम्भीर कण्ठ से उच्चरित होनेवाली उपनिषद् की स्वरलहरी चिरकाल सुधीर की हृदयवीणा को झंकृत किया करती थी। परवर्ती काल में उन्होंने 'स्वामीजी की अस्फुट स्मृति' में लिखा है, "विभिन्न अवसरों पर उनके श्रीमुख से उच्चरित, विभिन्न सुर-लय-ताल में तेजस्विता के साथ पठित उपनिषद् के एक-एक मंत्र मानो आज भी मेरे कानों में गूँज रहे हैं। जब परचर्चा में मग्न होकर आत्मचर्चा को भूल जाता हूँ, तो सुन पाता हूँ उनके उस सुपरिचित किन्नर-कण्ठ से उच्चरित उपनिषद् में निबद्ध वह दिव्य गम्भीर घोषणा –

तमेवैकं जानथ आत्मानम्-
अन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ।।[४]

– "एकमात्र उस आत्मा को ही जानो, अन्य सब बातों का परित्याग करो – वही अमृत का सेतु है।"

जब आकाश में घोर घटायें छा जाती हैं और बिजली चमकने लगती है, तब सुन पाता हूँ – मानो स्वामीजी उस आकाशस्थ सौदामिनी की ओर इंगित करते हुये कह रहे हैं –

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र-तारकम्
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तम्-अनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।[५]

– "वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता – चन्द्रमा और तारे भी नहीं, ये बिजलियाँ भी वहाँ नहीं चमकतीं – फिर इस सामान्य अग्नि की तो बात ही क्या ! उनके प्रकाशित होने से ही सब प्रकाशित होते हैं – उनका प्रकाश इन सबको प्रकाशित करता है।"

फिर जब तत्त्वज्ञान को असाध्य जानकर मन हताश हो जाता है, तब मानो सुन पाता हूँ – स्वामीजी आनन्दोत्फुल्ल मुख से उपनिषद् के इस आश्वासन की आवृत्ति कर रहे हैं –

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ।।[६]

* * *

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।[७]

– "हे अमृत के पुत्रो, सुनो। हे दिव्यधाम के निवासियो, तुम लोग भी सुनो। मैंने उस महान् पुरुष को जान लिया है, जो आदित्य के समान ज्योतिर्मय और अज्ञान-अन्धकार के परे हैं। उन्हें जान लेने से ही लोग मृत्यु के पार चले जाते हैं – मुक्ति पाने का कोई अन्य मार्ग नहीं है।"

दिन बीत जाते, रात निकल जाती, परन्तु सुधीर न जाने किस आनन्द के स्रोत में बहे चले जा रहे थे। क्रमशः उनकी समग्र भावना और सम्पूर्ण सत्ता में स्वामीजी ओतप्रोत हो गये। जिस दिन गुजराती पण्डितों की मण्डली स्वामीजी के साथ शास्त्र-विचार करने आयी थी, उस दिन सुधीर भी मठ में उपस्थित थे। अहंकारी पण्डितों ने वाद-विवाद में पराजय स्वीकार करने के बावजूद अन्त में कहा था, "स्वामीजी उस प्रकार के पण्डित तो नहीं हैं, परन्तु उनकी आँखों में एक मोहिनी शक्ति है। उसी शक्ति के बल पर उन्होंने विभिन्न स्थानों में दिग्विजय प्राप्त की है।" सुधीर टहलते हुए गंगा-तट पर जाकर पण्डितों की यह उक्ति सुनने के बाद विस्मयपूर्वक मन-ही-मन बुदबुदाने लगे, "स्वामीजी के नेत्रों में यह मोहिनी शक्ति कहाँ से आयी – यह जानने की यदि उत्सुकता हो, तो उनका अपने श्रीगुरु के साथ दिव्य सम्बन्ध तथा उनके अपूर्व साधन-वृत्तान्त पर एक बार श्रद्धापूर्वक विचार करो, तो इसका रहस्य ज्ञात हो जायगा।"

सुधीर को स्वामीजी का साक्षात् दर्शन पाये हुए दो महीने बीत चुके हैं। अब उनके लिये स्वामीजी के आकर्षण की अवहेलना करते हुए अपने घर में रह पाना सम्भव नहीं हो पा रहा था। पढ़ाई-लिखाई सब बन्द हो गयी थी। बी. ए. की परीक्षा देना असम्भव हो उठा था। अपना घर उन्हें एक गहरे कुँए के समान प्रतीत होने लगा। यहाँ पर यह बता देना उचित होगा कि इसी बीच सुधीर के छोटे भाई सुशील घर छोड़कर आलमबाजार मठ में सम्मिलित हो चुके थे। इस घटना से सुधीर के हृदय में प्रज्वलित वैराग्याग्नि को मन्द करने के स्थान पर उसे और भी तीव्र कर डाला। इनकी इस काल की मानसिक अवस्था का वर्णन उन्हीं के शब्दों में –

"मेरे छोटे भाई स्वामी प्रकाशानन्द ने मुझसे पहले मठ में प्रवेश किया। उसके साधु हो जाने के बाद अनेक दिनों तक मेरे मन की जो दशा हुई, उसे कहकर नहीं बताया जा सकता। घर छोड़कर साधु होना, या घर में ही रहकर धर्मजीवन बिताना – इनमें से कौन-सा मेरी अभीष्ट-सिद्धि में सहायक होगा, इसी चिन्ता में संशयग्रस्त अवस्था में मैंने महीनों बिताये। मन में घोर अशान्ति थी – कुछ भी निश्चित नहीं कर पा रहा था। आलमबाजार मठ में नियमित रूप से आवागमन भी चल रहा था। उसी समय एक दिन एक साधु के मुख से मैंने सुना, 'केवल एक महीने के लिये संन्यासी का वेश धारण करनेवाले उन गाजन के संन्यासियों को देखते हो न, उस अल्प काल के दौरान भी यदि ये लोग नियमों का ठीक-ठीक पालन करें, तो ये संसारी लोगों की अपेक्षा काफी

४. मुण्डकोपनिषद्, २/२/५
५. कठोपनिषद्, २/२/१५
६. श्वेताश्वतर-उपनिषद्, २/५
७. वही, २/८

उच्च हैं।'[८] यह बात सुनते ही मुझे मन में इतना बल मिला कि मैंने उसी दिन साधु होने का दृढ़ संकल्प कर लिया। मन में अब कोई भी द्विधा नहीं रह गयी थी।''

१८९७ ई. के अप्रैल का अन्तिम भाग चल रहा था। सुधीर घर छोड़कर आये और आलमबाजार मठ में सम्मिलित हो गये। स्वामीजी उस समय दार्जिलिंग गये हुए थे। दो-चार दिनों में ही स्वामीजी मठ लौट आये – उनके साथ स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी योगानन्द, स्वामीजी के शिष्य आलसिंगा पेरुमल, किडी और जी. जी. नरसिंहाचार्य आदि भी थे। स्वामीजी सुधीर को देखकर परम आनन्दित हुए और स्नेहपूर्वक कभी-कभी उन्हें 'खोका' कहकर पुकारने लगे। सुधीर ने भी स्वामीजी के चरणों में स्थान पाकर सोचा – इतने दिनों बाद अपने खुद के घर में आकर आश्रय प्राप्त हुआ।

मठ में पुराने तथा नये साधु-ब्रह्मचारियों की संख्या में क्रमश: वृद्धि होती जा रही थी। उस समय अनेक लोगों को ऐसा लग रहा था कि मठ के सभी अन्तेवासियों, विशेषकर नवागतों के लिये एक सुनिश्चित शिक्षा-प्रणाली तथा कर्मधारा आरम्भ करने की विशेष आवश्यकता है। स्वामीजी के नव-दीक्षित संन्यासी-शिष्य स्वामी नित्यानन्द ने इस विषय में स्वामीजी से कहा, ''इस समय बहुत-से नये-नये लड़के घर छोड़कर मठवासी हुए हैं। उनके लिये एक निर्दिष्ट नियम से शिक्षादान की व्यवस्था करने से बड़ा अच्छा होता।''

स्वामीजी इस प्रस्ताव पर प्रसन्न ही हुए और मठ के सभी लोगों को अपने पास बुला लाने को कहा। सभी लोगों के आकर स्वामीजी को घेरकर बैठ जाने के बाद स्वामीजी बोले – ''तुममें से कोई एक लिखता रहे, मैं बोलता जाता हूँ।'' कोई भी कलम लेकर स्वामीजी के सामने बैठने का साहस नहीं जुटा पा रहा था। युवक सुधीर थोड़े उत्साही तथा नि:संकोची स्वभाव के थे। यद्यपि उन्हें मठ में सम्मिलित हुए मात्र ४-५ दिन ही हुए थे। नि:शंक चित्त से वे कागज-कलम लेकर आगे बढ़ आये। स्वामीजी खूब प्रसन्न भाव से नियमावली बोलने लगे और सुधीर एकाग्र चित्त के साथ उसे यथावत लिपिबद्ध करने लगे। नियम लिखाने से पूर्व स्वामीजी ने एक बात सबको समझाते हुए बोले, ''देखो, ये सब नियम हम बना तो रहे हैं, लेकिन सर्वप्रथम हमें समझ लेना होगा कि इन नियमों को बनाने का मूल लक्ष्य क्या है। हम लोगों का मूल उद्देश्य है – सभी नियमों से परे जाना। तथापि नियम बनाने का अर्थ यह है कि हम लोगों में स्वभावत: बहुत-से कुनियम हैं – सुनियमों के द्वारा उन कुनियमों को दूर करने के बाद हमें सभी नियमों से परे जाने की चेष्टा करनी होगी। जैसे काँटे से काँटा निकालने के बाद अन्त में दोनों ही काँटों को फेंक दिया जाता है।''

इसके बाद एक-एक कर सारे नियम लिखाना पूरा हो जाने के बाद स्वामीजी ने सुधीर से कहा, ''देख, इन नियमों को जरा देख-भालकर अच्छी तरह प्रतिलिपि करके रख ले – देखना, यदि कोई नियम negative (निषेधात्मक) लिखा गया हो, तो उसे positive (विधेयात्मक) कर लेना।'' स्वामीजी द्वारा रचित तथा सुधीर महाराज द्वारा उनसे सुनकर लिखित ये नियम ही कालान्तर में 'बेलूड़ मठ की नियमावली' के नाम से परिचित हुए।

शुद्धचित्त त्यागव्रती सुधीर को स्वामीजी ने 'ब्रह्मचारी शुद्धानन्द' नाम के साथ संघ में सम्मिलित कर लिया और बाद में (१८९७ ई. की मई में) एक दिन कृपापूर्वक उन्हें मंत्रदीक्षा प्रदान किया। श्रीयुत शरत्चन्द्र चक्रवर्ती की दीक्षा भी उसी दिन आलमबाजार मठ के ठाकुरघर में हुई थी। महामंत्र दान करने के पूर्व स्वामीजी ने शुद्धानन्द से पूछा था, ''तुझे साकार अच्छा लगता है या निराकार?'' शुद्धानन्द ने उत्तर दिया था, ''कभी साकार अच्छा लगता है, तो कभी निराकार अच्छा लगता है।''

ब्रह्मविद्वरिष्ठ स्वामीजी ने इस पर कहा था, ''वैसा नहीं; गुरु समझ सकते हैं कि किसका क्या मार्ग है; हाथ देखूँ।'' इतना कहने के बाद वे शिष्य का दाहिना हाथ अपने हाथ में लेकर ध्यान करने लगे। थोड़ी देर बाद हाथ छोड़कर अन्य दो-चार बातों के बाद स्वामीजी बोले, ''यह मंत्र तेरे लिये उपयुक्त होगा।...''

शरत् बाबू की दीक्षा थोड़ी देर पहले हो गयी थी। सामने दो-चार लीचियाँ पड़ी थीं, स्वामीजी ने उन्हीं को गुरुदक्षिणा के रूप में देने का आदेश दिया। शुद्धानन्द द्वारा ही लिपिबद्ध एक अप्रकाशित स्मृतिकथा से ज्ञात होता है कि १८९८ ई. की जुलाई-सितम्बर में जब वे अल्मोड़ा में लाला बदरी शाह के मकान में स्वामी निरंजनानन्द के सान्निध्य में रहकर साधन-भजन में निरत थे, उन्हीं दिनों निरंजनानन्द जी ने आनुष्ठानिक विरजा-होम करके उन्हें संन्यास दिया और इसके बाद से वे स्वामी शुद्धानन्द के नाम से परिचित हुए। स्वामीजी के एक अन्य शिष्य स्वरूपानन्द उन दिनों अल्मोड़ा में 'प्रबुद्ध-भारत' पत्रिका के सम्पादन-कार्य में लगे हुए थे। उनकी व्यक्तिगत दैनन्दिनी में लिखा है – शुद्धानन्द ने श्रीठाकुर के चित्रपट के सम्मुख निरंजनानन्दजी से संन्यास ग्रहण किया, १६ सितम्बर १८९८। ❖ **(क्रमश:)** ❖

८. गाजन के संन्यासी – बंगाल में ऐसी प्रथा है कि गृहस्थ भी वर्ष के किसी विशेष समय में एक महीने तक संन्यासी जैसे रहते हैं। वह काल पूरा हो जाने के बाद वे अपनी सामान्य गृहस्थी में लौट जाते हैं।

कर्मयोग – एक चिन्तन (२६)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

मान लीजिये किसी ने बताया कि ऐसा यज्ञ कर लो, तो तुम चुनाव में जीत जाओगे। यज्ञ करा लिया और जब रिजल्ट आया, तो समझ में आया कि घर का तो सब कुछ चला गया, जो आने वाला था, वह भी नहीं आया और तब निराश हो गये। सोचने लगे – कहाँ हम इस चुनाव के झंझट में फँस गये। हम तो कभी चुनाव लड़ना नहीं चाहते थे। मान लीजिये हमने इस आशा से कोई टेन्डर भरा कि इसमें हमें करोड़ का लाभ हो जायेगा। किन्तु टेन्डर नहीं मिला, दूसरे ने घूस देकर उसको ले लिया। तो निराश हो गये। ऐसी निराशा गीता की निराशा नहीं है।

निराशी का तात्पर्य है कि मन में उसका कोई संस्कार नहीं रह जाय। जो मनुष्य जितनी कम आशाएँ, अपेक्षायें रखता है, वह उतना ही सुखी रहता है। आप अपने जीवन में ही देखें। पिछले जिन वर्षों में आप कम अपेक्षा रखें होंगे, उतने आप सुखी रहे होंगे। इसके लिये क्या करें? वर्तमान को स्वीकार कर लें।

अभी आते समय रेलगाड़ी में एक सीट साईड लोअर मिल गयी। अगर हम अपेक्षा करते की एअरकंडिशन में हमें अच्छा बर्थ मिलता, तो साईड लोअर पर रोते-रोते हमें प्रवास करना पड़ता। स्वीकार कर लिया की ठीक है, साईड लोअर मिल गया, तो कोई बात नहीं। यह गाड़ी तो अहमदाबाद जायेगी, हमको पहुँचना तो वहीं है। लोअर में बैठकर वही करो, जो फर्स्ट क्लास में बैठकर करते। यदि ऐसा मनोभाव हो तो निराशा नहीं होगी।

दूसरा शब्द है 'निर्ममः' – ममता रहित। कोई-कोई कहते हैं कि देखो, यह आदमी कितना निर्मम है कि कुत्ते को इतना जोर से मार दिया या गाय को डंडे से मार दिया। यह निर्ममता नहीं है, यह तो कसाईपन है, क्रुरता है। निर्ममता का अर्थ है – निर्+मम – निर् मानें नहीं। मम माने मेरा या अपना भाव। निर्मम् माने उसके मन में किसी के प्रति आसक्ति न हो। जैसे मैंने यह काम किया है, तो मुझे उसका लाभ मिले, कुछ नहीं तो कम से कम नााम-यश ही मिले, फोटो अखबार में छप जाय। ऐसा मनोभाव निर्ममता नहीं है। इसमें मेरी आशा जुड़ी है। आशा से ममता जुड़ती है। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। ये सब मनोवैज्ञानिक बातें हैं। क्षण-क्षण में हमारे जीवन को सुधारने के सभी उपाय हमारे शास्त्रों में हैं। चाहे उपनिषद हो, गीता हो, भागवत हो या चाहे रामायण-महाभारत हो। उन सबमें जीवनोपयोगी बातें हैं। जो अधिकारी व्यक्ति हैं, वे उपनिषद पढ़ें, ब्रह्मसूत्र पढ़ें और सामान्य हमारे जैसे व्यक्ति गीता से कुछ सूत्र लेने का प्रयत्न करें।

भगवान कृष्ण अर्जुन के माध्यम से हमें ये बता रहें है कि प्रतिदिन जीवन में इस प्रकार हम परिवर्तन ला सकते हैं। हमको दुःख क्यों होता है? क्योंकि हम आशा रखते हैं। पुत्री का विवाह हो रहा है। किसी मित्र ने कहा था कि तुम्हारी पुत्री के विवाह में गवर्नर को ले आऊँगा, उनसे मेरी अच्छी जान-पहचान है। कितने मेहमान आपके इस कार्यक्रम में आ रहे हैं, उधर आपका ध्यान नहीं है। कहाँ ध्यान है? जिधर से गवर्नर साहेब आने वाले हैं, उधर ध्यान है। कितनी उम्मीद लेकर बैठे थे कि उनके साथ मेरी वीडियो शूटिंग हो जायेगी। यह आशा है। मेरी ममता इसमें है कि विडियो शूटिंग हो जाये जिसमें मैं भी रहूँ और उसे मैं सबको दिखा सकूँ। इस प्रकार आशा और ममता साथ-साथ जुड़ी रहती है। यह प्रश्न आपके लिये छोड़ता हूँ कि यदि आज तक जीवन में आशा और ममता से सुख मिला हो, तो जितना हो सके ममता और आशा को बढ़ाइये। जिस दिन उसकी गहरी चोट लगेगी, उस दिन इस दुराशा के दुख का अनुभव होगा। हमें कहाँ आशा रखनी चाहिये, इस पर विचार करें। भगवान कहते हैं तुम अपने कर्म के प्रति निर्मम हो जाओ। चाहे झाड़ू लगाने का काम दिया गया हो, भोजन बनाने का काम दिया गया हो, चाहे प्रवचन देने का काम दिया हो, यह सब काम भगवान की पूजा है। हमें यह ममता नही रखनी चाहिये कि हम प्रवचन छोड़कर दूसरा काम नहीं करेंगे। यदि हम ऐसा सोचने लगें, तो आपको उस प्रवचन से लाभ मिलेगा, किन्तु मुझे नरक में जाना पड़ेगा। इसलिये निराशा और निमर्म होकर हमें जीवन को उन्नत करना चाहिए।

अब भगवान तीसरा विशेषण लगाते हैं विगतज्वर भूत्वा। भूत्वा माने करके, करने के बाद। तक्रं पीत्वा प्रवचनात् गच्छतु – तक्र पीने के बाद प्रवचन को जाइये। वैसे ही निराशी भूत्वा, अध्यात्मचेतसा भूत्वा, विगतज्वर भूत्वा और तब युद्धस्व – युद्ध करो।

ये विगतज्वर क्या है? संस्कृति में ज्वर माने बुखार। हिन्दी में बुखार और मराठी में ताप कहते हैं। अगर बुखार बीमारी लगे, तो इसे उतारने का प्रयत्न करें। अगर हमें बुखार प्रिय लग रहा है, तो अलग बात है। शारीरिक बुखार आने पर कष्ट होता है, तब हम उसे उतारने का प्रयत्न करते हैं।

'कामज्वर' ये शब्द आप सब सुनते हैं। व्यक्ति कामज्वर से पीड़ित है। व्यक्ति क्रोध के ज्वर से पीड़ित है। हम काम,

क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर आदि वासनाओं को बीमारी समझते हैं क्या? अगर कोई बड़ा व्यवसायी हो और उसे कहा जाय कि लोभ बीमारी है, तो वह कहेगा कि स्वामीजी आपका दिमाग खराब हो गया है। क्या लोभ जैसा प्रिय और कुछ है? अभी मैं जहाँ जानेवाला हूँ, वहाँ एक सट्टा लगाया है। अगर मैं जीत जाऊँगा, तो मुझे दो करोड़ रूपये मिल जायेंगे। इसमें खराबी क्या है? अब आप ही विचार करें कि क्या लोभ हमको रोग लगता है? नहीं लगता है। ये वासनायें – काम-ज्वर, क्रोध-ज्वर, ईर्ष्या-ज्वर हमको रोग या बीमारी नहीं लगती हैं, इसलिये हम इनको दूर करने का उपाय नहीं करते हैं। किन्तु यदि नाखून काटते समय ऊँगली कट गयी, तो तुरन्त हम डॉक्टर को बुलाकर इलाज करायेंगे, क्योंकि उसमें कष्ट होता है। वह आघात हमें रोग लगता है। इसलिये हमको भगवान कहते हैं कि यह षड्रिपु ज्वर हैं। इनसे बचो। ऐसे हजारों रिपुओं से हम प्रताड़ित हैं। इनसे संसार में हम डूब जाते हैं। यदि भगवान का नाम या सत्संग रूपी Life tube जीवन-रक्षक ट्यूब, जो हमें मिला है, इसका उपयोग करेंगे, तो हम डूबने से बच सकते हैं।

बहुत पुरानी बात है। भारत के ही एक हमारे आश्रम के स्वामीजी अमेरिका में रहते थे। एक बार वे बेलूड़ मठ में आये। उन्होंने एक घटना बतायी। उनका एक अमेरिकन शिष्य था। वह युवक था, उसने महाराज से मंत्र-दीक्षा ली। महाराज ने उसे एक किताब (Gospel of Shri Ramkrishna) (श्रीरामकृष्ण-वचनामृत) पढ़ने को दिया। उसके घर में उसके मामा, माँ और यह लड़का ये तीनों ही रहते थे। उसके पिताजी नहीं थे। उसने बहुत पैसा कमाया। घर में मामा ने देखा कि ये मेरा भांजा इतनी बड़ी मोटी किताब रोज पढ़ता है, तो मामा ने उत्सुकता से पूछा कि कौन-सी किताब तू पढ़ता है? उसने उत्तर दिया – मामाजी, यह बड़ी अच्छी पुस्तक है! यदि मैं आपको इसे पढ़ने के लिए दूँ, तो आप भी मुग्ध हो जायेंगे। रात को मामा ने वह किताब उससे पढ़ने के लिए माँग ली। सबेरे मामा ने उस किताब को उसके कमरे में टेबल पर जोर से पटक कर फेंक दिया और बोला – अरे मूर्ख, यह किस तरह की पुस्तक मुझे पढ़ने को दिया? यदि मैं कामिनी-कांचन त्याग दूँ, तो जीवन में क्या लेकर रहूँगा? इसमें कमिनी-कांचन त्याग करो, ऐसा लिखा है। ऐसी किताब कभी नहीं पढ़ना, इसे जला दो, फेंक दो। यदि ऐसा फैसला आपको करना हो तो विगत ज्वर मत होइये, जैसा आपको लगे, वैसा कीजिये। अगर आपको लगता है कि भाई ये खतरनाक टायफाइड का बुखार है, तो उस बुखार को उतारने की कोशिश कीजिये। क्योंकि इन रोगों से पीड़ित व्यक्ति संसार के सुखों को भोग कर पूर्ण आनन्द भी नहीं ले पाता। जब हम विगतज्वर होकर, स्वस्थ होकर काम करते हैं, तो कर्म करते हुए हमको आनन्द मिलेगा। अर्जुन भव रोगों से मुक्त हैं। तथापि भगवान कहते हैं इन चारों ज्वरों से मुक्त होकर युद्ध करो।

अब ३१ वें श्लोक में भगवान बताते हैं – कि हम जैसे साधारण लोग जो इतना शास्त्र अध्ययन नहीं कर सकते, सत्संग नहीं कर पाते, जिन्हें शास्त्र का कोई मार्गदर्शन नहीं मिल पाता, वे लोग भी यदि भगवान के उपदेशों को समझकर उसका जीवन में आचरण करेंगे, तो वे कर्म-बन्धन से मुक्त हो जायेंगे –

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ।। ३-३१

– हे अर्जुन जो कोई मनुष्य दोषरहित एवं श्रद्धारहित होकर मेरे इस मत का सदा अनुसरण करते हैं, वे सभी कर्मों से मुक्त हो जाते हैं।

हे अर्जुन, जो लोग मेरे इस मत को श्रद्धा से मान लेते हैं, वे कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। कोई शास्त्रग्रन्थ पढ़कर नहीं, किसी से सुनकर मान लेते हैं, ऐसा नहीं, बल्कि श्रद्धा के कारण अपने कर्मबंधनों से मुक्त हो जाते हैं।

इस श्लोक में दो विशेषण दिये गये हैं – श्रद्धावन्तो और अनसूयन्तो। उसमें दूसरा विशेषण अनसूयन्तो है। मैं अपने अनुभव से कहता हूँ कि पिछले ५०-६० वर्षों से प्रयत्न करते हुए भी उस दोष से मैं पूरी तरह मुक्त नहीं हुआ। दोनों विशेषण महत्वपूर्ण हैं। दूसरा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। श्रद्धावान हो और अनसूयन्त: असूया न करता हो। असूया कहते हैं दोष देखने को। गुणों में भी दोष देखना असूया है।

माँ सारदा कहती हैं कि बेटा जीवन में शान्ति चाहते हो तो, दूसरों के दोष नहीं देखना। दोष देखना अपना। संसार में कोई पराया नहीं है। सबको अपना समझकर स्वीकार करो।

जो दूसरों के दोष देखते हैं, उनका श्रीरामकृष्ण परमहंस एक उदाहरण देते हैं। उनके गाँव में एक महिला रहा करती थी, जो सबकी निन्दा किया करती थी। चाहे वह अच्छा हो या बुरा हो, चाहे उसमें गुण हो या दोष हो, वह सबकी निन्दा करती थी। एकबार उसके पैर में कील लगने से घाव हो गया और घाव में कीड़े पड़ गये। पैर सड़ने लगा और आस-पास दुर्गन्ध फैल गयी। वह बाद में मर गयी। ठाकुर हाजरा से कहते हैं कि एक कीड़े की भी निन्दा मत करना। मैं यह प्रश्न पुन: आपके लिए छोड़ता हूँ कि आप अपने आप से पूछें कि क्या आप दूसरों की निन्दा करते हैं, दूसरों में दोष देखते हैं? गुणों में दोष देखना यह बुरी प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति कठिन परिश्रम और सतत प्रयत्न करने से बड़ी मुश्किल से मिटती है।

❖ (क्रमश:) ❖

आत्मविश्वास का मंत्र

स्वामी विवेकानन्द

हमें दूसरों को घृणा की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। हम सभी उसी एक लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं। दुर्बलता और सबलता में भेद केवल परिमाणगत है। प्रकाश और अन्धकार में भेद, पाप और पुण्य के बीच भी भेद, जीवन और मृत्यु के बीच में भेद ... केवल परिमाणगत ही है, प्रकारगत नहीं; क्योंकि, वास्तव में सभी वस्तुएँ वही एक अखण्ड वस्तुमात्र हैं। सब वही एक है, जो अपने को विचार, जीवन, आत्मा या देह के रूप में अभिव्यक्त करता है; उनमें अन्तर केवल परिमाण का है। अत: जो किसी कारणवश हमारे समान उन्नति नहीं कर पाये, उनके प्रति घृणा करने का अधिकार हमें नहीं है। किसी की निन्दा मत करो। किसी की सहायता कर सकते हो तो करो, नहीं कर सकते तो हाथ-पर-हाथ रखकर चुपचाप बैठे रहो, उन्हें आशीर्वाद दो, अपने रास्ते जाने दो। गाली देने अथवा निन्दा करने से कोई उन्नति नहीं होती।

'पाप' की ही बात लो।... यदि दुर्बलता है, तो कोई चिन्ता नहीं, हमें तो विकास करना है। जब मनुष्य पहले-पहल जन्मा, तभी उसका रोग क्या है, जान लिया गया। सभी अपना-अपना रोग जानते हैं – किसी दूसरे को बताने की जरूरत नहीं। सारे समय 'हम रोगी हैं' – यह सोचते रहने से हम स्वस्थ नहीं हो सकते, उसके लिए दवा जरूरी है। बाहर की सारी चीजें हम भूल जा सकते हैं, बाह्य जगत् के प्रति हम कपटाचारी हो सकते हैं, पर अपने मन के भीतर हम सब अपनी दुर्बलताओं को जानते हैं। वेदान्त कहता है कि फिर भी मनुष्य को सदैव उसकी दुर्बलता की याद कराते रहना अधिक सहायता नहीं करता, उसको बल प्रदान करो, और बल सदैव निर्बलता का चिन्तन करते रहने से नहीं प्राप्त होता। दुर्बलता का उपचार सदैव उसका चिन्तन करते रहना नहीं है, वरन् बल का चिन्तन करना है। मनुष्य में जो शक्ति पहले से ही विद्यमान है, उसे उसकी याद दिला दो, मनुष्य को पापी न बतलाकर वेदान्त ठीक उसका विपरीत मार्ग ग्रहण करता है और कहता है, 'तुम पूर्ण और शुद्धस्वरूप हो और जिसे तुम पाप कहते हो, वह तुममें नहीं है।' जिसे तुम 'पाप' कहते थे, वह तुम्हारी आत्माभिव्यक्ति का निम्नतम रूप है; अपनी आत्मा को उच्चतर भाव में प्रकाशित करो। यह एक बात हम सब को सदैव याद रखनी चाहिए और इसे हम सब कर सकते हैं। कभी 'नहीं' मत कहना, 'मैं नहीं कर सकता' यह कभी न कहना, क्योंकि तुम अनन्तस्वरूप हो। तुम्हारे स्वरूप की तुलना में देश-काल भी कुछ नहीं है। तुम सब कुछ कर सकते हो, तुम सर्वशक्तिमान हो। ...

आत्मविश्वास का आदर्श ही हमारी सबसे अधिक सहायता कर सकता है। यदि इस आत्मविश्वास का और भी विस्तृत रूप से प्रचार होता और यह कार्यरूप में परिणत हो जाता, तो मेरा दृढ़ विश्वास है कि जगत् में जितना दु:ख तथा बुराइयाँ हैं, उसका अधिकांश गायब हो जाता। मानवजाति के समग्र इतिहास में सभी महान् स्त्री-पुरुषों में यदि कोई महान् प्रेरणा सबसे अधिक सशक्त रही है, तो वह यह आत्मविश्वास ही है। वे इस ज्ञान के साथ पैदा हुए थे कि वे महान् बनेंगे और वे महान् बने। मनुष्य कितनी ही अवनति की दशा में क्यों न पहुँच जाए, एक समय ऐसा अवश्य आता है, जब वह उससे बेहद आर्त होकर एक ऊर्ध्वगामी मोड़ लेता है और अपने में विश्वास करना सीखता है। ...

मनुष्य-मनुष्य के बीच जो भेद है वह केवल आत्मविश्वास की अधिकता या कमी के कारण ही है। आत्मविश्वास के द्वारा सब कुछ हो सकता है। मैंने अपने जीवन में इसका अनुभव किया है, अब भी कर रहा हूँ, और ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती जा रही है, त्यों-त्यों यह विश्वास दृढ़तर होता जा रहा है। जिसमें आत्मविश्वास नहीं, वही नास्तिक है। प्राचीन धर्मों के अनुसार जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता है, वह नास्तिक है। नया धर्म कहता है – जिसमें आत्मविश्वास नहीं, वही नास्तिक है। पर यह विश्वास केवल इस क्षुद्र 'मैं' को लेकर नहीं है, क्योंकि वेदान्त एकत्ववाद की भी शिक्षा देता है। इस विश्वास का अर्थ है – सबके प्रति विश्वास, क्योंकि तुम सभी एक हो। अपने प्रति प्रेम का अर्थ है सब प्राणियों से प्रेम, समस्त पशु-पक्षियों से प्रेम, सब वस्तुओं से प्रेम – क्योंकि तुम सब एक हो। मेरा विश्वास है कि यही महान् विश्वास जगत् को अधिक अच्छा बना सकेगा। वही सर्वश्रेष्ठ मनुष्य है, जो ईमानदारी से कह सकता है, ''मैं अपने विषय में सब कुछ जानता हूँ।'' क्या तुम जानते हो कि तुम्हारी इस देह के भीतर कितनी ऊर्जा, कितनी शक्तियाँ, कितने प्रकार के बल अब भी छिपे पड़े हैं? मनुष्य में जो है, कौन-सा वैज्ञानिक उन सबका ज्ञान प्राप्त कर सकता है? लाखों वर्षों से मनुष्य पृथ्वी पर है, पर अभी तक उसकी शक्ति का अणुमात्र अंश ही प्रकट हुआ है। अत: तुम जबरन कैसे अपने को दुर्बल कहते हो? ऊपर से दिखनेवाली इस पतितावस्था के पीछे क्या सम्भावना है, क्या तुम यह जानते हो? तुम्हारे अन्दर जो है, उसका थोड़ा-सा ही तुम जानते हो। तुम्हारे पीछे है – शक्ति और आनन्द का अपार सागर।

(व्यावहारिक जीवन में वेदान्त से)

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

सत्समृद्धं स्वतःसिद्धं शुद्धं बुद्धमनीदृशम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।।४७०।।

अन्वय – सत्, समृद्धम्, स्वतःसिद्धम्, शुद्धम्, बुद्धम्, अनीदृशम् एकम् एव अद्वयम् ब्रह्म इह नाना किञ्चन न अस्ति ।

अर्थ – ब्रह्म सत्-स्वरूप, सर्व ऐश्वर्यों से सम्पन्न, स्वतःसिद्ध (स्वयं अपना प्रमाण), शुद्ध, बोधस्वरूप, उपमारहित, एक और अद्वैत है। इसमें नानात्व (बहुत्व) का लेश तक नहीं है।

आत्मतत्त्व का उपदेश –

निरस्तरागा विनिरस्तभोगाः
शान्ताः सुदान्ता यतयो महान्तः ।
विज्ञाय तत्त्वं परमेतदन्ते
प्राप्ताः परां निर्वृत्तिमात्मयोगात् ।।४७१।।

अन्वय – निरस्त-रागाः विनिरस्त-भोगाः शान्ताः सुदान्ताः यतयः महान्तः एतद् परं तत्त्वं विज्ञाय अन्ते आत्मयोगात् परां निवृत्तिं प्राप्ताः ।

अर्थ – जिनकी विषयों से आसक्ति दूर हो गयी है, जिन्होंने समस्त भोगों का विशेष रूप से त्याग कर दिया है, जो (मन से) शान्त हो चुके हैं, जिनकी इन्द्रियाँ पूर्णतः दान्त (संयमित) हो चुकी हैं, ऐसे संयमशील महात्मा लोग, इस परम ब्रह्मतत्त्व की अनुभूति करके, अन्त में (देह छूटने पर) आत्मबोध के द्वारा परम आनन्द-रूप मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

भवानपीदं परतत्त्वमात्मनः
स्वरूपमानन्दघनं विचार्य[1] ।
विधूय मोहं स्वमनःप्रकल्पितं
मुक्तः कृतार्थो भवतु प्रबुद्धः ।।४७२।।

अन्वय – भवान्, अपि आत्मनः इदम् आनन्दघनम् स्वरूपम् परतत्त्वम् विचार्य, स्वमनः-प्रकल्पितम् मोहम् विधूय, प्रबुद्धः मुक्तः कृतार्थः भवतु ।

अर्थ – हे शिष्य, तू भी आत्मा के इस आनन्द-घन-स्वरूप परम तत्त्व का विचार करके, अपने मन में कल्पित मोह (उल्टे ज्ञान) को धोकर – प्रबुद्ध, मुक्त और (इस प्रकार) कृतार्थ हो जा।

समाधिना साधुविनिश्चलात्मना
पश्यात्मतत्त्वं स्फुटबोधचक्षुषा ।
निःसंशयं सम्यगवेक्षितश्चे-
च्छ्रुतः पदार्थो न पुनर्विकल्प्यते ।।४७३।।

अन्वय – स्फुट-बोध-चक्षुषा साधु-विनिश्चलात्मना समाधिना आत्मतत्त्वम् पश्य। चेत् श्रुतः पद-अर्थः निःसंशयम् सम्यक् अवेक्षितः पुनः न विकल्प्यते ।

अर्थ – निश्चल-स्वरूप निर्विकल्प समाधि के द्वारा, स्फुट (स्पष्ट) ज्ञान की दृष्टि से तू आत्मतत्त्व को देख ले। यदि गुरु से सुने हुए उपदेश (अहं ब्रह्मास्मि या अन्य महावाक्य) के अर्थ की ठीक तथा असन्दिग्ध रूप से धारणा हो गयी है, तो दुबारा इस विषय में विकल्प-संशय का विषय नहीं होता।

स्वस्याविद्याबन्धसम्बन्धमोक्षा-
त्सत्यज्ञानानन्दरूपात्मलब्धौ ।
शास्त्रं युक्तिर्देशिकोक्तिः प्रमाणं
चान्तःसिद्धा स्वानुभूतिः प्रमाणम् ।।४७४।।

अन्वय – स्वस्य अविद्या-बन्ध-सम्बन्ध-मोक्षात् सत्य-ज्ञान-आनन्द-रूप-आत्मलब्धौ, शास्त्रं युक्तिः देशिकोक्तिः प्रमाणं च, अन्तःसिद्धा स्वानुभूतिः प्रमाणम् ।

अर्थ – अपने अविद्या-बन्धन के साथ सम्बन्ध टूट जाने से, जो सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप आत्मा की प्राप्ति हो जाती है, उसमें शास्त्र, युक्ति (वेदार्थ के अनुकूल तर्क) तथा गुरु का उपदेश ही प्रमाणभूत हैं, और दूसरी ओर अपने अन्तःकरण में होनेवाली अनुभूति भी (प्रत्यक्ष तथा सर्वोच्च) प्रमाण है।

बन्धो मोक्षश्च तृप्तिश्च चिन्ताऽऽरोग्यक्षुधादयः ।
स्वेनैव वेद्या यज्ज्ञानं परेषामानुमानिकम् ।।४७५।।

अन्वय – बन्धः मोक्षः च तृप्तिः च चिन्ता-आरोग्य-क्षुधादयः स्वेन एव वेद्या, यत् परेषां ज्ञानं (तत्) आनुमानिकम् ।

अर्थ – बन्धन, मुक्ति, तृप्ति, चिन्ता, स्वस्थता, भूख आदि स्वयं अनुभव करने की (स्वसंवेद्य या अपरोक्ष) चीजें हैं; दूसरों को इनका ज्ञान आनुमानिक (परोक्ष) मात्र होता है। (अनुमान गलत भी हो सकता है और सही भी।)

तटस्थिता बोधयन्ति गुरवः श्रुतयो यथा ।
प्रज्ञयैव तरेद्विद्वानीश्वरानुगृहीतया ।।४७६।।

अन्वय – श्रुतयः यथा गुरवः तटस्थिताः बोधयन्ति। (तस्मात्) विद्वान् ईश्वर-अनुगृहीतया प्रज्ञया एव तरेत् ।

अर्थ – शास्त्र और गुरु मानो तट पर स्थित रहकर (दूर से, परोक्ष रूप से) ब्रह्मात्म-बोध कराते हैं; जबकि विद्वान् (शिष्य) परमेश्वर की कृपा से प्राप्त प्रज्ञा (प्रकृत ज्ञान, अपने भीतर प्रत्यक्ष अनुभूति) के द्वारा ही (अज्ञान-रूप भवसागर को) पार कर लेता है; (और ब्रह्मात्म-बोध-रूपी लक्ष्य तक पहुँचकर उसमें प्रतिष्ठित हो जाता है)।[2]

---

१. पाठभेद – निचाय्य अर्थात् जानकर, साक्षात्कार करके

२. शास्त्र तथा गुरु परोक्ष ज्ञान कराते हैं, जबकि ईश्वर की कृपा प्रत्यक्ष अनुभूति कराती है।

❖ (क्रमशः) ❖

माउंट एवरेस्ट पर चढ़नेवाली पहली विकलांग महिला : अरुणिमा सिन्हा

भारतीय विकलांग महिला अरुणिमा सिन्हा ने मंगलवार, २१ मई, २०१३ को माउंट एवरेस्ट पर चढ़कर सभी को विस्मित कर दिया। जब वह अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ रही थी, तो उसे देखकर पर्वतारोही उत्साहित हो रहे थे।

उत्तर प्रदेश की रहने वाली अरुणिमा सिन्हा एक राष्ट्रीय बालीवाल खिलाड़ी है। दो वर्ष पहले जब वह रेल में यात्रा कर रही थी, तब कुछ लुटेरों ने उसे चलती हुई ट्रेन से धक्का देकर गिरा दिया। वह पटरी पर गिर गयी। उसका एक पैर कट गया। वह रात भर चीखती-चिल्लाती रही। रात भर में उसके ऊपर से ५० रेलगाड़ियाँ गुजर गयीं। किन्तु प्रचंड हिम्मत और जीवन-शक्ति ने उसे जीवित रखा।

जब दिल्ली के एम्स अस्पताल में उसका इलाज चल रहा था, तभी उसने अपने बेड पर ही निर्णय लिया कि वह माउंट एवरेस्ट पर विजय प्राप्त करेगी।

अरुणिमा अपने भाई ओमप्रकाश सिन्हा के साथ इसी वर्ष जनवरी में बड़ोदरा शहर की यात्रा की थी। उसके भाई ओम प्रकाश सिन्हा सदा अरुणिमा के सपने को पाने के लिये उसे प्रोत्साहित करते थे। ग्रीन आइस युवाओं को खेल में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करने की चेष्टा कर रही थी। उसने उन्हें आंमत्रित किया की वे राज्य-पर्वतारोहण का प्रचार करें, ताकि गुजरात इस दल को माउंट एवरेस्ट भेज सके। ग्रीन आईस के सदस्य विमल सेठ का परिचय अरुणिमा के भाई ओमप्रकाश से था। श्री सेठ ने उन्हें संदेश दिया कि अरुणिमा का एवरेस्ट पर विजय हमारे लिये गर्व की बात है।

ओमप्रकाश सिन्हा ने कहा, ''यह हमारे लिये बड़े गर्व का पल था। उस क्षण की व्याख्या मैं शब्दों में नहीं कर सकता। लोग मुझसे पूछ रहे थे कि यह घटना अंतर्राष्ट्रीय मीडिया को कैसे पता चला? सामाजिक नेटवर्किंग में भी यह चर्चा का विषय था। मैंने कहा कि यह एक सपना है, जो सचमुच साकार होने वाला है।''

ओमप्रकाश ने कहा कि वह और अरुणिमा इस साल फिर रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द मेमोरियल, बड़ोदरा द्वारा आयोजित होने वाले सम्मेलन में भाग लेने आयेंगे। उक्त संस्था के सचिव स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी को जब यह जानकारी मिली, तो उन्होंने भी गर्व का अनुभव किया और अपने सदस्यों को एस.एम.एस. से सूचना दी। उन्होंने कहा की अरुणिमा ने माउंट एवरेस्ट पर विजय प्राप्त करने के बाद मांउट एवरेस्ट की चोटी पर तिरंगा झंडा फहराई और उसके बगल में श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा और स्वामी विवेकानन्द जी का चित्र स्थापित किया।

अन्तर्राज्यीय युवा-सम्मेलन सम्पन्न हुआ

अम्बिकापुर श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द आश्रम, बगीचा श्रीरामकृष्ण आश्रम और अम्बिकापुर विवेकानन्द युवा महामंडल के संयुक्त तत्त्वावधान में १८ से २० अक्टूबर, २०१३ तक अन्तर्राज्यीय त्रिदिवसीय युवा-सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें ५ राज्यों – मध्य प्रदेश, उड़िशा, आन्ध प्रदेश, पश्चिम बंगाल और छत्तीसगढ़ के २२० शिविरार्थियों ने भाग लिया। उद्घाटन सत्र में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी और अखिल भारतीय विवेकानन्द युवा महामंडल के प्रेसीडेंट श्री नवनीहरन मुखोपाध्याय के संदेश पढ़कर सुनाये गये। उसके बाद बगीचा श्रीरामकृष्ण आश्रम के सचिव स्वामी ज्योतिर्मयानन्द जी ने युवकों का आह्वान करते हुये ८० वर्ष की उम्र में भी बड़ा जोशीला व्याख्यान दिया। सभा को अम्बिकापुर श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द आश्रम के सचिव स्वामी तन्मयानन्दजी, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्दजी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रोफेसर श्री अवधेश प्रधानजी, सरगुजा विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति डॉ. सुनील कुमार वर्मा, अखिल भारतीय विवेकानन्द युवा महामंडल के उपाध्यक्ष श्री रनेन मुखर्जी, श्री मिन्टू पद दास, श्रीकान्त दूबे, श्री एस. के. पाढ़ी, श्री रविशंकर भाटिया और श्रीदेवनारायण नायक ने संबोधित किया। शिविर में तीनों दिन युवकों को विभिन्न प्रकार से उनके चरित्र-निर्माण हेतु उपरोक्त वक्ताओं द्वारा परामर्श दिये गये। बिलासपुर के बच्चों ने श्री एस. के. पाढ़ी जी के निर्देशन में सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किये। सबने वहाँ राजपुरी जलप्रपात का भ्रमण किया और शहर में रैली निकाली। स्वामी विवेकानन्द के नारों और जयजयकार से बगीचा पहाड़ी की घाटी तीन दिनों तक गुँजती रही। प्रकृति के सुरम्य वातावरण में त्रिदिवसीय शक्ति-मंथन एवं शक्ति-जागरण के प्रयास में युवकों ने अत्यन्त उत्साह एवं आनन्द के साथ अपने अनमोल पल व्यतीत किये। ❑❑❑